समता सौरभ (मासिक)

समता सस्कृति की वाहिका

दिसम्बर, १६६४

तृतीय अक

वार्षिक मूल्य · ६०.०० रुपये

एक प्रति · ५ ०० रुपये

प्रकाशक/पत्र व्यवहार का पता
सम्पादक, समता सौरभ,
द्वारा समता शिक्षा सेवा सस्थान, देशनोक ३३४८०१ (बीकानेर)

इन्दरचन्द वैद की ओर से दीपचन्द साखला द्वारा साखला प्रिन्टर्स, चन्दन सागर, बीकाने
मे मुद्रित तथा इन्दरचन्द बैद द्वारा देशनोक से प्रकाशित।

सम्पादक   इन्दरचन्द बैद

बिन्दु-चिन्तन

कुम्भ पर्व

कौन है कुम्भ,
कौन कुम्भकार,
दर्शन नही
सहज अनुभूति की वस्तु है।
तभी तो
बिना मसि कागद छुए,
बिना हाथ में कलम गहे
वह औघड़ सत पता दे गया था—
'जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है,
बाहर भीतर पानी . ।'
और ब्रज की अज्ञ गोपिकाओं ने
यही अनुभूत सत्य तो प्रकट किया था—
'विधि कुलाल कीन्हें घट कॉचे
ते तुम आन पकाए।'
साधना तपाती है
तप पकाता है
तब घट, घट बनता है।

इसीलिये राशि चाहे निरीह मेष हो
चाहे सबल सिंह,
ज्ञान का बृहस्पति कितना ही सहयोग करे
बिना सूर्य के सयोग के कुभ नहीं होता।

मेरे कुम्भ का सत्य भी तो भिन्न नहीं,
और अमृत की बूँद,
कहाँ ढूढू, क्यों ढूढू?
कस्तूरी मृग की नाईं क्यों भटकू?
इसी में तो भरा है वह अमृत।
ले भागा होगा जयन्त उसे,
छ्लका होगा वह चार स्थानों पर।

आस्था के चार ही स्थान तो नही,
मेरे अतस का अमृत
सब कही छलका है,
सभी पर छलका है।
'मैं'—मय हो गया है सब कुछ,
'आत्मवत् सर्व भूतेपु'।
मैं सब में परिव्याप्त हूँ
अह ब्रह्मास्मि।

और देवगण?
वे भी इस कलश का भाग हैं—
कलशस्य मुखे विष्णु: कण्ठ रुद्र समाश्रिता।
मूले तत्र स्थितो ब्रह्मा मध्ये मातृगणा स्मृता।।

कोई रीता नही है,
सब कुम्भों में अमृत है,
सब कही अमृत है,
अमृत ही अमृत है,
सर्वत्र यही तो छलक रहा है।
कब नहीं, कहॉ नही छलका यह?

अनादिकाल से चल रहा है
यह कुम्भ पर्व,
तब तक चलेगा
जब तक एक भी कुम्भ शेष है,
उसके उपरान्त?
'फूटा कुम्भ जल जलहिं समाना'
यही तो ज्ञानियों ने कहा है,
यही तो ज्ञान है, दर्शन है,
आध्यात्म है,
कितना सहज!
कितना सरल!

—डॉ आदर्श सक्सेना

सम्पादकीय

हमारी बात

मानव जीवन मे विज्ञान की सहिति को अनदेखा नही किया जा सकता क्योकि जीवन जिन प्राकृतिक नियमो मे बध कर चलता है विज्ञान उन्हीं की गवेषणा एव व्याख्या करता है। जीवन और विज्ञान अथवा जीवन और प्रकृति का यह शाश्वत सबध है। धर्म इसी सबध को नवीन प्रतीको मे परिभाषित कर मानव जीवन को उच्च धरातल पर स्थापित करने का प्रयास करता है। इसीलिये धर्म की अवधारणा धारण करने वाली शक्ति के रूप मे की गई है।

धर्म क्या है, इस सबध मे विविध रूपो मे बहुत कुछ कहा गया है। कही पाप-पुण्य की विवेचना की गई है और कही धर्म के लक्षणो की। परन्तु एक बात जो सभी ने मुक्तकण्ठ से स्वीकार की है वह यह है कि अस्तित्व की रक्षा के लिये धर्म अति आवश्यक है। इस रूप मे धर्म जीवन एव जीवन-पद्धति को सुदृढ़ आधार प्रदान करता है। जब भी यह आधार विचलित होता है, जीवन विनाश के कगार की ओर अग्रसर होता दिखाई देता है। जीवन और धर्म के संबध की इस अनिवार्यता को सासारिक प्राणी के लिये सहज रूप मे देख पाना सभव नहीं होता इसीलिये धर्म उसकी नानाविध व्याख्या करता है।

इस दृष्टि से जैन परमाणु शास्त्र का एक बड़ा वैज्ञानिक सत्य यह है कि कठोर परमाणु स्निग्ध परमाणु से जुड़कर ही अधिक स्थूल स्कद को उत्पन्न कर सकता है। अर्थात् कठोर और कोमल की सयुति से ही अभीष्ट सृष्टि सभव होती है। विज्ञान मे यही धन और ऋण विद्युत अथवा इलेक्ट्रोन और प्रोटोन है। वेदो मे यही प्राण-अपान, वृष-सोम, रवि-प्राण, दो अश्विनी, मित्र-वरुण, अग्नि-सोम का युगल है। इन सयोजक तत्त्वो का सतुलन जब भी भग होता है, सृष्टि विषम हो जाती है। अतिवृष्टि, अनावृष्टि, भूकम्प, महामारी आदि के प्रकोप से जीवन आक्रान्त हो जाता है। इसलिये विनाशकारी भूकम्प चाहे जापान का हो, चाहे पश्चिमी यूरोप मे आई भीषण बाढ़, अफ्रीका का भयानक सूखा हो, या अपने ही देश मे फैली कोई महामारी, कुछ भी अस्वाभाविक नही। जीवन और प्रकृति के सतुलन तथा सृष्टि के घटको मे तालमेल के अभाव के कोई भी परिणाम निकल सकते है। आज विश्व मे जो कुछ भी घटित हो रहा है उसके मूल पर यदि दृष्टिपात किया जाय तो पता चलेगा कि सृष्टि का जो मौलिक और स्वस्थ डायलेक्टिक्स है वह विकृत हो गया है। कठोर तत्त्व प्रधान हो गया है। कोमलता, लालित्य, मुदिता और त्याग जैसी प्रवृत्तियो का अवसान हुआ है। समृद्धि, सुख, सुविधा, उपभोग आज के जीवन का इष्ट बन गये हैं। जिस भीषण गति से प्राकृतिक साधनो का निर्मम विदोहन हुआ है,

वानस्पतिक एव जैवीय सम्पदा का जैसा विनाश हुआ है तथा उपभोक्तावादी दर्शन ने जो प्रदूषण उत्पन्न किया है उसका प्रभाव मानव मनोविज्ञान पर इस रूप में पड़ा है कि दैवी एव मानवीय वृत्तियो का भीषण ह्रास और पाशविक वृत्तियो का दुर्दमनीय विकास हुआ है। जव सहज, सुन्दर, सुकोमल और सरस प्रवृत्तियाँ नष्ट होगी तब निश्चित ही कराल, कठोर, कृत्रिम एव क्रूर प्रवृत्तियाँ विकसित होंगी। प्रेम, मुदिता और करुणा की रिक्ति को लिप्सा, कुण्ठा और क्रूरता ही भरेगी। इसीलिये आज हिसा, दुराग्रह और असहिष्णुता जैसी वृत्तियाँ, प्रेम, क्षमा और त्याग की तुलना मे अधिक स्वाभाविक लगती है। यथार्थ और आदर्श को दो विरोधी वादो के रूप मे परिभाषित कर सहज सत्य के नीचे से आधारभूमि को ही खीच लिया गया है। प्रथम प्रवृत्ति को सहज और दूसरी सप्रयास मानने की मानसिकता ही सम्पूर्ण अशान्ति के मूल मे है। दोनों को ही सहज मान कर उनका सतुलन करने की दृष्टि क्या विकसित नहीं की जा सकती ? की जा सकती है, यदि जीवन के तथ्यो और जगत् की प्रकृति को सही सदर्भों मे देखा जा सके। यहीं उस समतावादी दृष्टि को विकसित करने की आवश्यकता अनुभव होती है जो समभाव से, सहजभाव से, सतुलित दृष्टि से तथ्यो का अवलोकन, अनुशीलन एव मूल्याकन कर उनके प्रति अपनी प्रतिक्रिया निर्धारित कर सके।

धन और सत्ता को केन्द्र मे रख कर ही तमाम राजनीतिक और आर्थिक सघर्षों का सूत्रपात होता है। आज राजसत्ता और राजनीति सर्वोपरि हो गये हैं। यात्रिक और औद्योगिक क्रान्ति के साथ वणिक प्रभुता की कामना भी अदम्य और बर्बर रूप मे प्रबल हो उठी है। अब सत्ता और सम्पत्ति तथा राज्य और वाणिज्य का ही निर्णायक मूल्य रह गया है। इन स्थितियो मे मानव के लिये शान्ति, सुख और सतोष के सभी आधार समाप्त हो गये है। इस उपभोक्तावादी सस्कृति से निपटने का एक ही मार्ग है—धर्मनिष्ठ दृष्टि का विकास अर्थात् ऐसी दृष्टि का विकास जो उन गुणो को महत्त्व देती हो, जो सहअस्तित्व के लिये आवश्यक हो। हम चाहे तो धर्म के दस लक्षणो के आधार पर इन्हें धृति, क्षमा, दम, अस्तेय आदि कह ले अथवा अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के आधार पर पच महाव्रत। परन्तु इनकी आज जितनी आवश्यकता है इतनी पहले कभी नही थी। अहिसा की आवश्यकता है हिंसा के बढ़ते प्रभाव को रोकने के लिये, सत्य की आवश्यकता है पाखण्डपूर्ण आचरण के छद्म से रक्षा के लिये, अस्तेय की आवश्यकता है उपभोक्तावाद के आकर्षण से मुक्ति के लिये, ब्रह्मचर्य की आवश्यकता है भोगवादी मानसिकता से उद्धार के लिये, अपरिग्रह की आवश्यकता है भौतिकता की दमक के बीच स्पष्ट दृष्टि की रक्षा के लिये और इन सबकी आवश्यकता है उच्छृखल विकास की अबाध गति को रोकने के लिये जो आज के जीवन की विषमता का प्रमुख कारण है।

परन्तु क्या ऐसा संभव है कि इन नाना आकर्षणो से विकर्षण की दृष्टि सहज रूप मे उपलब्ध हो जाये ? यह सभव है। गीता मे दु ख-सुख, लाभ-हानि और जय-पराजय के बीच समदृष्टि, समभाव के विकास की बात कही गई है। स्वयं को निर्विकार रख ससार की गतिविधियो को समभाव से देखना तथा उनकी परिणतियो के प्रति निर्लिप्त रहना ही योग है। आचार्य श्री नानेश के समता दर्शन को इसी परिप्रेक्ष्य मे अधिक सरलता से समझा जा सकता है क्योंकि वह इसे प्रायोगिक बनाकर व्यवहार के सहज धरातल पर परिभाषित करता है। भगवान ने भी कहा है—

'सव जग तू समयाणु पेही
पियमप्पिय कस्स विनो करेज्ञा

—सूत्रकृताग सूत्र १-१०-६

जो समग्र विश्व को समभाव से देखता है वह न किसी का प्रिय करता है, न किसी का अप्रिय। समदर्शी अपने-पराये की भेद-बुद्धि से परे हो जाता है। समभाव की साधना जब परिपक्व हो जाती है तब समग्र विश्व एक एव एकरूप दिखाई देता है—इतना एकरूप कि उस परिदृश्य मे से व्यक्ति तिरोहित हो जाता है। यह स्थिति 'सम्पूर्ण ज्ञान-प्राप्ति' की स्थिति है। ज्ञान के इस आध्यात्मिक रूप को प्रेरक एव अनुगमनीय बनाने का प्रयास समता दर्शन करता है। इसी को धारण कर सासारिक व्यवहार की परिपालना ही धर्म का सहज रूप है। आचाराग सूत्र मे भी कहा गया है—'समियाए धम्मे'। समता दृष्टि के विकास एव समता समाज की स्थापना के प्रयास इसी दिशा मे बढ़ते चरण हैं।

—सम्पादक

अनुक्रमणिका

श्वास समीक्षा

आचार्य श्री नानेश

ऐसा साधक भीतर मे रहने वाले पाच प्रकार के वायु सस्थान तथा उनकी समीपता से प्राणवायु का मूल्याकन कर लेता है। इसी मूल्याकन की सहायता से वह प्राणशक्ति की पहिचान कर सकता है। प्राणशक्ति के समीप पहुँच जाने पर सूक्ष्म परिधि के सान्निध्य मे रहने वाली बहुरगी शक्तियो को पहिचान पाने का सामर्थ्य उसमे जाग उठता है। उनकी पहिचान के बाद साधक का आगे का मार्ग आसान हो जाता है।

श्वास की अधिकाश गतिविधि नासिका के माध्यम से सचालित होती है। इसे विज्ञान के क्षेत्र मे ऑक्सीजन (प्राणवायु) कहते है। यह ऑक्सीजन वनस्पति आदि तत्त्वो मे से बहुलता से प्राप्त होती है। यह ऑक्सीजन जब फेफड़ो मे पहुचती है तो वहा रक्तशुद्धि का कार्य करती है। यह शरीर मे रहे हुए अशुद्ध तत्त्वो को बाहर निकाल देती है। शरीर विज्ञान के वैज्ञानिक अपने ज्ञान की सीमा इस ऑक्सीजन तक ही सामान्य रूप से मानते हैं परन्तु योग पद्धति आदि की दृष्टि से इस विषय का चिन्तन बहुत गहराई तक पहुँचा हुआ है।

श्वास द्वारा सगृहीत प्राणवायु रक्त-शुद्धि के साथ-साथ रक्त-सचरण मे भी समाविष्ट हो जाती है। जिसके कारण प्राणवायु का फैलाव शरीर के छोटे से छोटे यानी सूक्ष्मातिसूक्ष्म अवयवो से लेकर स्थूल से स्थूल अवयवो तक हो जाता है। इस रक्त सचार मे प्राणवायु का जितनी अधिक मात्रा मे प्रभाव पड़ेगा, उतने ही प्रभाव से प्राणवायु शरीर के आन्तरिक सस्थानो मे मुख्य सचालन की वाहिका बन जायगी। इस प्राणवायु के उपरान्त इसी अवस्थान के अन्तर्गत समान वायु भी मिल जाती है। यह समान वायु समान रूप से यथायोग्य यथास्थान पर शरीर की आवश्यकताओं की सम्पूर्ति मे सहायक बनती है। आन्तरिक सस्थानो की हलन चलन और प्रकम्पन आदि अवस्थाओं के फलस्वरूप अन्य वायुओं का निर्माण भी हो जाता है। इन्हीं वायुओं मे से जिस वायु का प्रवाह ऊर्ध्व दिशा मे जाता है उसे 'ऊर्ध्व वायु' के नाम से पहिचानते है। दूसरी कई वायु शरीर के अधोभाग की तरफ बहती है, उन्हे 'अधोवायु' कहते है। ऊर्ध्व और अधो वायु की दिशाओं से अलग विभिन्न दिशाओं मे भी शरीर के अवयवो से उत्पन्न होने वाली वायु को 'व्यान वायु' के नाम से पुकारते हैं। इस प्रकार योग पद्धति के अनुसार पाच प्रकार की वायु शरीर के आन्तरिक अवयवो में व्याप्त होकर फैली हुई रहती है।

शरीर मे जहाँ कहीं वेदना का अनुभव होता है, उसका अधिकाश भाग वायु वेग के अवरुद्ध हो जाने के कारण ही होता है। इस अवरोध का मुख्य कारण व्यक्ति के

बाह्य जीवन में व्यवस्थित क्रियाकलाप का अभाव होता है। इस वायु संस्थान तथा उसके विभिन्न विभागो के व्यवस्थित रीति से संचालित करने के ज्ञान का अभाव भी इसका कारण है। सही ज्ञान नहीं होने से वायुओं का व्यवस्था तंत्र बिगड़ जाता है। इतना ही नही, कई बार तो व्यवस्था तंत्र ऐसा अस्त-व्यस्त हो जाता है कि उसकी विकृति के कुप्रभाव से समग्र शरीर का ढाचा ही नहीं समग्र जीवन की नौका ही डोलायमान हो जाती है। इस दृष्टि से देखने पर यह प्रतीत होता है कि मनुष्य भी अन्य प्राणियो के समान यंत्रवत् ही उत्पन्न होता है तथा यंत्रवत् ही अपना जीवन गुजारता है। वह अपने बाहरी अवयवो का तो श्रृंगार करता फिरता है। बाहरी अवयवों को सुन्दर बनाने के लिये अथवा उनकी सुन्दरता को बनाये रखने के लिये अपनी शक्ति का व्यय करता है, परन्तु इस शरीर के बाहरी अवयवो की सुन्दरता विशेषत· आन्तरिक वायु सस्थान की व्यवस्था आदि प्रक्रियाओं पर निर्भर करती है, यह वह नहीं जानता।

मनुष्य अपने जिन अगोपागो पर अपनी सुन्दरता का अनुभव करता है और जिनकी साज-सज्जा के लिये अपनी पूरी जिन्दगी तक बिता देता है, बल्कि ऐसा करते हुए अपने को सुन्दर मानने के अभिमान मे फूला नहीं समाता है, वहीं मनुष्य अपने भीतरी सस्थान को तथा उनकी सूक्ष्म प्रक्रियाओं को नहीं समझता। इन्हीं अगोपागो के भीतर सस्थान मे प्रवाहित होती हुई वायु जब प्रकुपित हो जाती है और उसका प्रकोप असाध्य बन जाता है तब यह बाहर दिखाई देने वाली सुन्दरता बहुत जल्दी बदसूरती मे बदल जाती है। यह विषय प्रत्येक व्यक्ति के लिये अनुभवगम्य हो सकता है किन्तु तभी जब वह आन्तरिक व्यवस्था की ओर अपना ध्यान लगाये।

मनुष्य तो ऊपरी रूप रग को सजाने के साथ-साथ पुष्ट और अधिक सुन्दर बनने की लालसा मे अधिकाधिक पौष्टिक पदार्थों को भी उदरस्थ करता जाता है यह सोचे बगैर कि अपनी लालची रसना के अधीन होकर वह जो पौष्टिक व स्वादिष्ट पदार्थों को बेनाम उदरस्थ करता जा रहा है, क्या वह उन पदार्थों को ठीक से पचा भी सकेगा ? विचित्र दशा ऐसी देखी जाती है कि पहले के खाये हुए पदार्थ तो पचते ही नहीं और उससे पूर्व ही वह अन्य स्वादिष्ट पदार्थ खाना शुरू कर देता है। परिणाम यह होता है कि पाचन तंत्र अव्यवस्थित हो जाता है और उस परिस्थिति मे वायुवाहक नाड़ियाँ वायु के वेग को बढ़ाने के लिये अधिक सक्रिय होने की चेष्टा करती हैं। किन्तु क्षमता से अधिक भार पड़ने के कारण इस तीव्र चेष्टा से वे शीघ्र ही क्लान्त हो जाती हैं। इस प्रकार वायु का सन्तुलन बिगड़ जाता है। पेट मे पड़े पदार्थ सड़ने लगते हैं और सड़े हुए अन्न की दुर्गंध से समग्र वायु सस्थान दूषण से व्याप्त हो जाते हैं। यह दूषित वायु जीवन के प्रत्येक कार्य के लिये अहितकर सिद्ध होती है। शरीर मे इसके कारण बेचैनी बढ़ती जाती है। उस दशा मे योग साधना की बात तो छोड़िये, सामान्य व्यावहारिक कार्यों को करने की भी शक्ति नहीं रहती है। फिर वह डॉक्टर-वैद्यो के पास जाता है। आज सही इलाज करने वाले डॉक्टर-वैद्य मुश्किल से

ही मिलते हैं। अधिकाश डॉक्टर-वैद्य अर्थोपार्जन मे ही रचे-पचे होते है। अत वे तेज दवाओं का प्रयोग करते है। फलस्वरूप रोगी के सवेदनशील ज्ञान ततु क्षत-विक्षत होकर इस तरह शून्यता पकड़ने लगते है कि तब दु ख की सवेदना भी सही तरीके से नहीं होती है। वेदना मे कुछ कमी को महसूस करने से रोगी भ्रम मे पड़ जाता है। वह सोचता है कि उसकी वेदना इन दवाओं से ही कम हुई है।

वास्तव मे होता यह है कि आरोग्य आवे उससे पहले ही शरीर मे कई प्रकार की विकृतियाँ प्रविष्ट हो जाती हैं। कई बार तो ऐसी दवाओं के अतिरेक से व्यक्ति की जीवन-शक्ति का ही धीरे-धीरे ह्रास होता जाता है।

यदि गभीरतापूर्वक सोचे तो वर्तमान जीवन मे प्राप्त यह सुखद जीवन-शक्ति कितनी अमूल्य है जो अनुभव से भी अपूर्व है। फिर इसी जीवन-शक्ति को जब आध्यात्मिक साधना एव योग विषयक उपलब्धियो के साथ जोड़ देते हैं तो कितनी अननुभूत सुख शान्ति के समीप पहुँच सकते है ? वास्तविक जीवन विज्ञान के अभाव मे ही मनुष्य ऐसी दुर्व्यवस्था का शिकार हो जाता है जिसका सम्यक् समाधान योग पद्धति के माध्यम से भव्य रीतिपूर्वक किया जा सकता है। परन्तु यह कब किया जायगा ? जब इस जीवन मे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सहायक तत्त्वो का मूल्याकन किया जायगा एव सहायक तत्त्वो की प्रणाली तथा उससे सम्बन्धित जातीय-विजातीय स्वरूपो को विधिवत् विशुद्ध किया जायगा, तभी मनुष्य इस बात से सावधान हो सकेगा कि वह अशुद्धिकारक तत्त्वो को अपने शरीर तत्र के भीतर प्रविष्ट न होने दे। एक बार बिगड़ी हुई कार्य प्रणाली को तभी व्यवस्थित कर सकते हैं जब कड़ी भूख लगने पर ही भोजन किया जाय अथवा आवश्यक लगे तो उपवास व्रत पूर्वक अधिकाधिक प्राणवायु को ग्रहण करे ताकि सम्पूर्ण वायु सस्थान पुन· सुव्यवस्थित बन सके।

अपने सम्पूर्ण सुप्रभाव के साथ जब प्राणवायु प्रत्येक अग प्रत्यग मे पहुच जाती है तब उसका जीवन के महत्त्वपूर्ण अग प्राणो के साथ सम्पर्क होता है। यह सम्पर्क साधक को सूक्ष्म परिधि के समीप पहुँचने मे सहायक बनाता है। तब साधक को सूक्ष्म तथा सूक्ष्मतम अवस्थानो एव उनके अन्तर्गत बनी ग्रथियो को समझने व सुलझाने का सुअवसर मिल जाता है। यही नहीं, अन्ततोगत्वा उसे सच्चिदानन्द के समीप पहुँच जाने का सुअवसर भी मिल सकता है।

तात्पर्य यह कि शरीर के समस्त अवयवो की अपेक्षा भी श्वास-प्रश्वास सम्बन्धी प्रक्रियाएँ अधिक महत्त्व रखती हैं। इनकी सहायक क्रियाओं का भी बड़ा महत्त्व होता है अत साधक श्वास प्रणालिका को सर्वाधिक महत्त्व दे तथा उसका समुचित मूल्याकन करे। इसके पश्चात् ही वह अपने पुरुषार्थ को सार्थक रूप से क्रियाशील बना सकेगा।

श्वासानुसधान—श्वास-प्रश्वास एक प्रकार से आन्तरिक क्रियातत्र का सकेत चिह्न (काटा मापक यत्र) है। जैसे पेट्रोल की टकी पर लगे काटे से उसके भीतर रही हुई मात्रा का सकेत मिल जाता है, उसी प्रकार जीवन सम्बन्धी समस्त क्रियाकाडो का सकेत श्वास की गतिविधि से जाना जा सकता है। एक दृष्टि से भीतर के क्रियाकाड एक विशाल कारखाने की मशीनो और उनके कार्य के समान हैं। उस विशाल कारखाने की बड़ी-बड़ी मशीनो के बीच मे अगर छोटे से छोटे तार मे भी कही अवरोध पैदा हो जाय तो सारी मशीनरी पर उसका असर पड़ता है। उसी प्रकार इस शरीर तत्र के भीतर होने वाली स्थूल अथवा सूक्ष्म क्रिया-प्रक्रियाओं के बीच मे यदि किसी सूक्ष्म से सूक्ष्म नाड़ी तत्र की क्रिया मे भी अवरोध पैदा हो जाय तो उस रुकावट या शरीर विषयक क्रियाकलाप पर बुरा असर पड़ता है। इस असर की सूचना प्रणालिका से मिल सकती है। इस कारण इस प्रणालिका विज्ञान का बहुत गहराई से ज्ञान आवश्यक है। इससे अवरोध के कारणो की भली-भाति जानकारी होगी तथा उन कारणो को दूर करने, तन्त्र को पुन' सुव्यवस्थित बनाने की स्थिति पैदा होगी।

श्वासप्रणालिका के माध्यम से, जिस प्रकार शरीर तन्त्र के भीतर चलने वाले क्रियाकलापो का प्रभाव जाना जा सकता है, उसी प्रकार मानसतन्त्र सम्बन्धी क्रियाकलापो का प्रभाव भी श्वास की गति से अभिव्यक्त होता है। कोई व्यक्ति अपने ज्ञान केन्द्र के साथ अपने क्रिया केन्द्र के माध्यम से, मानस तन्त्र को झकृत करता हुआ क्रिया-कलापो को प्रभावित बना रहा है, यह विज्ञान भी श्वास विज्ञान की परिधि मे आता है।

शरीर के आन्तरिक अवस्थानो पर बाहर से ग्रहण किये गये, अपाच्य गुणो ही नहीं, मलिन विचारो का भी दुष्प्रभाव पड़ता है। समझिये कि ज्योही उन्होंने सर्वतन्त्रो पर अपना प्रभाव छोड़ा त्योही भीतर मे एक अचकचाहट सी पनपती है। उस समय मे श्वास-विधिज्ञ साधक, उन भावो के प्रभाव को तत्क्षण प्रभावी बनाने की अपनी कला का यदि प्रयोग करे तो इन भावो के प्रभाव को नासिका भाग से वापिस बाहर फेक सकता है। उन मलिन भावो के प्रभाव के स्थान पर तब वह शुभ भावो के प्रभाव को व्याप्त बना सकता है। जैसे पप (नल या टूटी) की सहायता से टकी मे भरे गंदे पानी को बाहर फेक कर भीतर साफ पानी भरा जा सकता है, उसी प्रकार यह नासिका पप का काम करती है। इस एकदेशीय रूपक को समझ कर यदि साधक मलिन भावो को श्वासनली से बाहर निकालता रहे और निर्मल भावो को भीतर ग्रहण करता रहे तो उसकी साधना दिन-प्रतिदिन फलवती बनती जाती है और एक दिन वह लक्ष्य के समीप भी पहुँच सकती है। एक दृष्टान्त से इसे समझिये। जिस समय साधक के भीतर क्रोध का मलिन भाव उठे तो उस समय वह उस भाव को वाणी अथवा शरीर के अन्य अवयवो से बाहर-प्रकट न होने दे, अपितु श्वासविधि

के माध्यम से शान्त-प्रशान्त श्वास वर्गणाओं के स्कधो को भीतर खींचे। जितने स्कधो को खींच सके उन्हे वह खींचे तथा दो सैकिड का श्वास का आन्तरिक कुंभक करे और बाद मे लयबद्ध आन्तरिक श्वास को बाहर फेकने की चेष्टा करे। ऐसी प्रक्रिया कुछ समय तक करते रहने पर क्रोध का प्रभाव सफल न होकर निष्फल बाहर निकल जायगा। शान्त वर्गणा से सम्बन्धित श्वास वर्गणा का बारी-बारी से भीतर प्रवेश होने के कारण कषाय-क्रोध विषयक दुर्गंध समाप्त हो जायगी। यही प्रक्रिया काम विकार अथवा अन्य प्रकार के विकारो को बाहर निकालने मे सक्षम बनती है।

शरीर मे विकृत पदार्थों की अथवा मलिन भावो की भारी गदगी भरी रहती है, यदि साधक सम्यक् रीति से श्वासानुसधान करे और उससे सम्बन्धित प्रक्रियाओं का विवेकसहित उपयोग करे तो शरीर मे फैल रही यह गदगी दूर की जा सकती है तथा वहॉ शुद्धता का सचार किया जा सकता है। काम, क्रोध आदि की गदगी के बीच मे कई बार निमित्त-नैमेत्तिक सम्बन्ध, कार्य-कारण सम्बन्ध, आदि भी नजर मे आते हैं। आन्तरिक क्रिया-कलापो के अस्त-व्यस्त हो जाने से भीतर मे दुर्गंध व्याप्त हो जाती है। इस दुर्गंध का प्रभाव नियत्रण केन्द्र पर पड़ता है और ज्योही नियत्रण केन्द्र शिथिल हो जाता है त्योही काम क्रोध का दुष्प्रभाव प्रकट होने लग जाता है। इससे पहले से व्याप्त दुर्गंध और अधिक गहरी हो जाती है।

यदि यही क्रम दीर्घकाल तक इसी प्रकार चलता रहे तो व्यक्ति का समग्र जीवन दोनो प्रकार की गदगियो से भर उठता है और सड़ाध मारने लगता है। इन दोनो प्रकार की गदगियो की सघनता केवल श्वास तत्र को प्रभावित बना कर ही समाप्त नहीं हो जाती है बल्कि अन्य तत्रो पर भी अपना दुष्प्रभाव छोड़ती है। इससे तपस्तत्र पर भी बुरा असर पड़ता है। इस हेतु साधक को उपवास व्रत या लम्बी तपस्या करने का अभ्यास बनाना चाहिये ताकि अन्दर की दुर्गंन्ध अन्दर ही समाहित हो जाय। उसके साथ ही शेष गदगी को विरेचन पदार्थ आदि के माध्यम से बाहर निकालकर आहार तन्त्र को स्वस्थ एव सक्रिय बनाना समीक्षा के लिये आवश्यक है। इस शेष गदगी को बाहर निकालने मे श्वास तन्त्र सहायक होगा तो गदगी बाहर निकल जाने के बाद वह पुन स्वस्थ रूप से सक्रिय भी बनेगा जिससे नियत्रण केन्द्र सबल बन जाता है और नये केन्द्रो से प्रवेश पाने वाली गदगी भीतर पहुँच नही पाती है। साधक यदि प्रत्येक समय सावधान रहे और अपने विवेक तत्र को सतर्क रखे तो भीतर के अवस्थानो मे उत्पन्न होने वाली काम क्रोधादि वृत्तियो को वह रूपान्तरित कर सकता है।

इस प्रकार की प्रक्रिया सावधानी के साथ लम्बे समय तक सक्रिय रखी जाय तो साधक सूक्ष्म परिधि की समीपता मे उत्पन्न होने वाले परिवर्तनो का स्वय स्रष्टा और निर्माता बन कर स्वतन्त्रता साध सकता है। □

श्रमणाचार

मानमल कुदाल

भारतीय आचार-शास्त्र का सामान्य आधार कर्म सिद्धान्त है। इसी पर जैनो का अहिसावाद, अपरिग्रहवाद एव अनिश्वरवाद प्रतिष्ठित है। कर्म का साधारण अर्थ कार्य, प्रवृत्ति अथवा क्रिया है। कर्मकाण्डी यज्ञ आदि क्रियाओं को कर्म कहते है। पौराणिक व्रत नियम आदि को कर्म रूप मानते है। जैन परम्परा मे कर्म दो प्रकार का माना गया है—द्रव्यकर्म और भावकर्म। कार्मण पुद्गल अर्थात् जड़तत्त्व विशेष जो कि जीव के साथ मिलकर कर्म के रूप मे परिणत होता है, द्रव्यकर्म कहलाता है। यह ठोस पदार्थ रूप होता है। द्रव्यकर्म की यह मान्यता जैन कर्मवाद की विशेषता है। आत्मा के अर्थात् प्राणी के राग-द्वेषात्मक परिणाम अर्थात् चित्तवृत्ति को भावकर्म कहते हैं। एक बार समस्त कर्मो का नाश हो जाने पर पुन नवीन कर्मों का आगमन नही होता क्योंकि उस अवस्था मे कर्मोपार्जन का कोई कारण विद्यमान नहीं रहता। आत्मा की इसी अवस्था का नाम मोक्ष, मुक्ति, निर्वाण अथवा सिद्धि है।

जैन कर्मवाद मे कर्मोपार्जन के दो कारण माने गये है—योग और कषाय। शरीर, वाणी और मन के सामान्य व्यापार को योग कहते हैं तथा कषाय मन का व्यापार विशेष है। कषाय के कारण कर्म परमाणुओं का आत्मा से मिल जाना बध कहलाता है। बंध प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के भेद से चार प्रकार का है। ज्यो-ज्यो कर्मों का उदय होता जाता है त्यो-त्यो कर्म आत्मा से अलग होते जाते हैं। इसी प्रक्रिया का नाम निर्जरा है। जब आत्मा से समस्त कर्म अलग हो जाते हैं तब उसकी जो अवस्था होती है, उसे मोक्ष कहते हैं।

जैन आचार का प्रारभ देशविरति अर्थात् आशिक वैराग्य से होता है। इस अवस्था को पचम गुणस्थान कहते है। इसमे व्यक्ति अणुव्रतो—छोटे व्रतों का पालन करता है। इस भूमिका पर स्थित व्यक्ति को उपासक अथवा श्रावक कहा जाता है। इसके बाद की अवस्था सर्वविरति के रूप मे होती है। इसमे व्यक्ति पूर्णतया विरक्त हो जाता है। इस अवस्था को षष्ट गुणस्थान कहते हैं। इसमे स्थित श्रमण अथवा निर्ग्रन्थ महाव्रतो—बड़े व्रतो का पालन करता है। इस भूमिका को आचार्य हरिभद्र प्रतिपादित मित्रायोगदृष्टि एव पतजलिनिर्दिष्ट यम योगाग के समकक्ष माना जा सकता है। इसके बाद चरित्र का धीरे-धीरे विकास होता जाता है जिसके कारण कर्मग्रन्थोक्त अप्रमत्त आदि अवस्थाओं की प्राप्ति होती है। जैन आचार्यों ने श्रमणाचार एवं श्रावकाचार दोनो से सम्बन्धित ग्रन्थो का निर्माण किया है। इन ग्रन्थो मे श्वेताम्बर परम्पराभिमत आचाराग, उपासकदशांग, दशवैकालिक, आवश्यक, दशायुत स्कन्ध,

वृहत्कल्प, व्यवहार, निशीथ, महानिशीथ व श्रीतकल्प तथा दिगम्बर परम्पराभिमत मूलाचार, मूलाराधना, रत्नकरण्डक श्रावकाचार, वसुनदिश्रावकाचार, सागारधर्मामृत व अनगारधर्मामृत मुख्य हैं।

आचाराग मे सर्वप्रथम सूत्रकार ने पूर्वजन्म और पुनर्जन्म को बतलाते हुए क्रियाओं की विपरीतता तथा क्रियाओं से होने वाले प्रभावो पर प्रकाश डाला है, जो किसी भी साधक अथवा अनगार के लिए प्रेरणा का कार्य करती है। इसके आगे मूर्च्छित मनुष्य की क्या दशा होती है? इस पर प्रकाश डाला गया है। डॉ के सी सोगानी ने अपनी आचाराग चयनिका की प्रस्तावना मे इस पर विशद् चर्चा की है। उनके अनुसार वास्तविक स्व-अस्तित्व का विस्मरण ही मूर्च्छा है। इसी विस्मरण के कारण मनुष्य व्यक्तिगत अवस्थाओं और सामाजिक परिस्थितियो से उत्पन्न सुख-दु.ख से एकीकरण करके सुखी-दु खी होता रहता है। मूर्च्छित मनुष्य स्व-अस्तित्व (आत्मा) के प्रति जागरूक नही होता है, वह अशाति से पीड़ित होता है, समता भाव से दरिद्र होता है, उसे अहिसा पर आधारित मूल्यो का ज्ञान देना कठिन होता है तथा वह अध्यात्म को समझने वाला नहीं होता है (१८)। मूर्च्छित मनुष्य इन्द्रिय-विषयो मे ही ठहरा रहता है (२२)। वह आसक्ति-युक्त होता है और कुटिल आचरण मे ही रत रहता है (२२)। इस तरह वह अर्हत् (जीवन-मुक्त) की आज्ञा के विपरीत चलने वाला होता है (२२, ८०)। स्व-अस्तित्व के प्रति जागरूक होना ही अर्हत् की आज्ञा मे रहना है। इस जगत मे यह विचित्रता है कि सुख देने वाली वस्तु दु ख देने वाली बन जाती है और दु ख देने वाली वस्तु सुख देने वाली बन जाती है। मूर्च्छित मनुष्य इस बात को देख नही पाता है (३५)। इसलिए वह सदैव वस्तुओं के प्रति आसक्त बना रहता है। यही उसका अज्ञान है (३८)। विषयो मे लोलुपता के कारण वह ससार मे अपने लिए वैर की वृद्धि करता रहता है (३६)। और बार-बार जन्म धारण करता रहता है (४६)। अत कहा जा सकता है कि मूर्च्छित मनुष्य सदा सोया हुआ अर्थात् सन्मार्ग को भुला हुआ होता है (४४)। इच्छाओं के तृप्त न होने पर वह शोक करता है, क्रोध करता है, दूसरो को सताता है और उनको नुकसान पहुँचाता है (३७)। यहाँ यह समझना चाहिए कि सतत हिसा मे सलग्न रहने वाला व्यक्ति भयभीत व्यक्ति होता है। आचाराग ने ठीक ही कहा है कि प्रमादी (मूर्च्छित) व्यक्ति को सब ओर से भय होता है (६२)। वह सदैव मानसिक तनावो से भरा रहता है। चूकि उसके अनेक चित्त होते हैं, इसलिए उसका अपने लिए शान्ति (तनाव मुक्ति) का दावा करना ऐसे ही है जैसे कोई चलनी को पानी से भरने का दावा करे (५३)। मूर्च्छित मनुष्य ससाररूपी प्रवाह मे तैरने के लिए बिल्कुल समर्थ नहीं होता है (३३)। वह भोगो का अनुमोदन करने वाला होता है तथा दु:खो के भँवर मे ही फिरता रहता है (३४)।

श्रमण आचार का आध्यात्मिक और नैतिक पक्ष

आचाराग सूत्र मे सूत्रकार ने अनगार (साधक) के लिए स्थान-स्थान पर आध्यात्मिक प्रेरक तथा उनसे प्राप्त शिक्षाओं का उल्लेख किया है।

'यह मूर्च्छित मनुष्यो का जगत है। ऐसा होते हुए भी यह जगत् मनुष्य को ऐसे अनुभव प्रदान करने के लिए सक्षम है, जिनके द्वारा वह अपने आध्यात्मिक उत्थान के लिए प्रेरणा प्राप्त कर सकता है। मनुष्य कितना ही मूर्च्छित क्यो न हो फिर भी बुढ़ापा, मृत्यु और धन-वैभव की अस्थिरता उसको एक बार जगत् के रहस्य को समझने के लिये बाध्य कर ही देते हैं। यह सच है कि कुछ मनुष्यो के लिए यह जगत् इन्द्रिय-तुष्टि का ही माध्यम बना रहता है (६६), किन्तु कुछ मनुष्य ऐसे सवेदनशील बने रहते है कि यह जगत् उनकी मूर्च्छा को आखिर तोड़ ही देता है।

मनुष्य देखता है कि प्रतिक्षण उसकी आयु क्षीण हो रही है। अपनी बीती हुई आयु को देखकर वह व्याकुल होता है और बुढ़ापे मे उसका मन गड़बड़ा जाता है। जिनके साथ वह रहता है वे ही आत्मिक जन उसको बुरा-भला कहने लगते हैं और वह भी उन्हे बुरा-भला कहने लग जाता है। बुढ़ापे की अवस्था मे वह मनोरंजन के लिए, क्रीड़ा के लिए तथा प्रेम के लिए नीरसता व्यक्त करता है (२५)। अत आचाराग का शिक्षण है कि ये आत्मी जन मनुष्य के सहारे के लिए पर्याप्त नहीं होते है और वह भी उनके सहारे के लिए पर्याप्त नहीं होता है (२५)। इस प्रकार मनुष्य बुढ़ापे को समझ कर आध्यात्मिक प्रेरणा ग्रहण करे तथा सयम के लिए प्रयत्नशील बने और वर्तमान मनुष्य जीवन के सयोग को देखकर आसक्ति रहित बनने का प्रयास करे (२६)।

'आचाराग का कथन है कि हे मनुष्यो! आयु बीत रही है, यौवन भी बीत रहा है, अत प्रमाद (आसक्ति) मे मत फसो (२६) और जब तक इन्द्रियो की शक्ति क्षीण न हो तब तक ही स्व-अस्तित्व के प्रति जागरूक होकर आध्यात्मिक विकास मे लगो (२८)।'

'आचाराग सर्व-अनुभूत तथ्य को दोहराता है कि मृत्यु के लिए किसी भी क्षण न आना नहीं है (३२)। इसी बात को रखते हुए आचाराग फिर कहता है कि मनुष्य इस देह-सगम को देखे। यह देह सगम छूटता अवश्य है। इसका तो स्वभाव ही नश्वर है। यह अध्रुव है, अनित्य है और अशाश्वत है (७१)। आचाराग इनके प्रति आश्चर्य प्रकट करता है जो मृत्यु के द्वारा पकड़े हुए होने पर भी सग्रह मे आसक्त होते हैं (६६)। मृत्यु की अनिवार्यता हमारी आध्यात्मिक प्रेरणा का कारण बन सकती है। कुछ मनुष्य इससे प्रेरणा ग्रहण कर अनासक्ति की साधना मे लग जाते हैं।'

'जब मूर्च्छित मनुष्य को ससार की निस्सारता का भान होने लगता है (५४), तो उसकी मूर्च्छा की सघनता धीरे-धीरे कम होती जाती है और वह अध्यात्म

मार्ग की ओर चल पड़ता है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि यदि अध्यात्म मे प्रगति किया हुआ व्यक्ति मिल जाए, तो भी मूर्च्छित मनुष्य जागृत स्थिति मे छलॉग लगा सकता है (७७)। इस तरह से बुढ़ापा, मृत्यु, धन-वैभव का नाश, ससार की निस्सारता और जागृत मनुष्य (मुनि अनगार) के दर्शन—ये सभी मूर्च्छित मनुष्य को आध्यात्मिक प्रेरणा देकर उसमे स्व अस्तित्व का बोध पैदा कर सकते है।

आन्तरिक रूपान्तरण

'आत्म जागृति अथवा स्व अस्तित्व के बोध के पश्चात् आचाराग साधक को (मनुष्य को) चारित्रात्मक आन्तरिक रूपान्तरण के महत्त्व को बतलाते हुए साधना के ऐसे सारभूत सूत्रो को बतलाता है जिससे उसकी साधना पूर्णता को प्राप्त हो सके। कहा है कि हे मनुष्य! तू ही तेरा मित्र है (५६), तू अपने मन को रोककर जी (६०)। जो सुन्दर चितवाला है, वह व्याकुलता मे नहीं फसता है (६६)। तू मानसिक विषमता (राग-द्वेष) के साथ ही युद्ध कर तेरे लिए बाहरी व्यक्तियो से युद्ध करने से क्या लाभ (७४)? बध (अशाति) और मोक्ष (शान्ति) तेरे अपने मन मे ही है (७२)। धर्म न गाँव मे होता है न जगल मे, वह तो एक प्रकार का आन्तरिक रूपान्तरण है (८०)। कहा गया है कि जो ममतावाली वस्तु-बुद्धि को छोड़ता है, वह ममतावाली वस्तु को छोड़ता है, जिसके लिए कोई ममतावाली वस्तु नही है, वह ही ऐसा ज्ञानी है (मुनि है) जिसके द्वारा अध्यात्म-पथ जाना गया है (४०)।

साधना के सूत्र

आन्तरिक रूपान्तरण के महत्त्व को समझाने के बाद आचाराग ने हमे साधना की दिशाएँ बताई है। ये दिशाएँ ही साधना के सूत्र हैं अत इन पर दृष्टिपात करना आवश्यक है। ये सूत्र हैं —

१ अज्ञानी मनुष्य का बाह्य जगत् से सम्पर्क उसमे आशाओं और इच्छाओं को जन्म दे देता है। मनुष्यो से वह अपनी आशाओं की पूर्ति चाहने लगता है और वस्तुओं की प्राप्ति के द्वारा वह इच्छाओं की तृप्ति चाहता है। इस तरह से मनुष्य आशाओं और इच्छाओं का पिण्ड बना रहता है। ये ही उसके मानसिक तनाव, अशान्ति और दु:ख के कारण होते है (३५)। इसलिए आचाराग का कथन है कि मनुष्य आशा और इच्छा को त्यागे (३५)।

२ जो व्यक्ति इन्द्रियो के विषयो मे आसक्त होता है, वह बहिर्मुखी ही बना रहता है, जिसके फलस्वरूप उसके कर्मबधन नहीं हटते है और उसके विभाव संयोग (राग-द्वेषात्मक भाव) नष्ट नहीं होते है (६८)। अत. इन्द्रिय-विषय मे अनासक्ति साधना के लिये आवश्यक है। यहीं से सयम की यात्रा प्रारभ होती है (४६)। आचाराग का कथन है कि हे मनुष्य! तू अनासक्त हो जा और अपने को

नियन्त्रित कर (६७)। जैसे अग्नि जीर्ण (सूखी) लकड़ियो को नष्ट कर देती है, इसी प्रकार अनासक्त व्यक्ति राग-द्वेष को नष्ट कर देता है (६०)।

३. कषाएँ मनुष्य की स्वाभाविकता को नष्ट कर देती हैं। कषायो का राजा मोह है। जो एक मोह को नष्ट कर देता है, वह बहुत कषायो को नष्ट कर देता है (६२)। अहकार मृदु सामाजिक सम्बन्धो तथा आत्म-विकास का शत्रु है। कहा है कि उत्थान का अहकार होने पर मनुष्य मूढ़ बन जाता है। (७५)। जो क्रोध आदि कषायो को तथा अहकार को नष्ट करके चलता है वह ससार प्रवाह को नष्ट कर देता है (५५)।

४. मानव समाज मे न कोई नीच है, न कोई ऊँच है (३०)। सभी के साथ समतापूर्ण व्यवहार किया जाना चाहिये। आचाराग के अनुसार समता मे ही धर्म है।

५. इस जगत् मे सब प्राणियो के लिए पीड़ा अशान्ति है, दु ख युक्त है (२३)। सभी प्राणियो के लिए यहाँ सुख अनुकूल होते हैं, दु ख प्रतिकूल होते है, वह अप्रिय होता है तथा जिन्दा रहने की अवस्थाएँ प्रिय होती है। सब प्राणियो के लिए जीवन प्रिय होता है (३२)। अत आचाराग का कथन है कि कोई भी प्राणी मारा नहीं जाना चाहिए, गुलाम नही बनाया जाना चाहिए, शासित नही किया जाना चाहिए, सताया नही जाना चाहिए और अशान्त नहीं किया जाना चाहिए। यही धर्म शुद्ध है, नित्य है और शाश्वत है (६४)। जो अहिंसा का पालन करता है, वह निर्भय हो जाता है (६२)। हिसा तीव्र से तीव्र होती है, परन्तु अहिसा सरल होती है (६२)। अत हिसा को मनुष्य त्यागे। प्राणियो मे तात्त्विक समता स्थापित करते हुए आचाराग अहिसा भावना को दृढ़ करने के लिए कहता है कि जिसको तू मारे जाने योग्य मानता है वह तू ही है, जिसको तू शासित किए जाने योग्य मानता है वह तू ही है जिसको तू सताए जाने योग्य मानता है वह तू ही है, जिसको तू गुलाम बनाए जाने योग्य मानता है वह तू ही है, जिसको तू अशान्त किये जाने योग्य मानता है वह तू ही है (७८)। इसलिए ज्ञानी (मुनि) जीवो के प्रति दया का उपदेश दे और दया पालन की प्रशसा करे (८५)।

६. आचाराग ने समता और अहिंसा की साधना के साथ सत्य की साधना को भी स्वीकार किया है। आचाराग का शिक्षण है कि हे मनुष्य! तू सत्य का निर्णय कर, सत्य मे धारणा कर और सत्य की आशा मे उपस्थित रह (५२-६१)।

७. सग्रह समाज मे आर्थिक विषमता पैदा करता है। अत. आचाराग का कथन है कि मनुष्य अपने को परिग्रह से दूर रखे (३६)। बहुत प्राप्त करके भी वह उसमे आसक्ति युक्त न बने (३६)।

८. आचाराग मे समतादर्शी (अर्हत) की आज्ञापालन को कर्त्तव्य कहा गया है (८३)। कहा है कि कुछ लोग समतादर्शी की अनाज्ञा मे भी तत्परता सहित होते हैं, कुछ लोग उसकी आज्ञा मे भी आलसी होते है। ऐसा नहीं होना चाहिए (८०)। यहाँ यह पूछा जा सकता है कि क्या मनुष्य के द्वारा आज्ञापालन किए जाने को महत्त्व देना उसकी स्वतन्त्रता का हनन नहीं है? उत्तर मे कहा जा सकता है कि स्वतन्त्रता का हनन तब होता है जब बुद्धि या तर्क से सुलझाई जाने वाली समस्याओं मे भी आज्ञापालन को महत्त्व दिया जाए। किन्तु जहाँ बुद्धि की पहुँच न हो ऐसे आध्यात्मिक रहस्यों के क्षेत्र मे आत्मानुभवी (समतादर्शी) की आज्ञा का पालन ही साधक (अनगार) के लिए आत्म-विकास का माध्यम बन सकता है। ससार को जानने के लिए सशय अनिवार्य है (६९)। पर समाधि के लिए श्रद्धा अनिवार्य है (७६)। इससे भी आगे चले तो समाधि मे पहुँचने के लिए समतादर्शी की आज्ञा मे चलना आवश्यक है। सशय से विज्ञान जन्मता है, पर आत्मानुभवी की आज्ञा मे चलने से ही समाधि अवस्था तक पहुँचा जा सकता है। अत आचाराग ने अर्हत की आज्ञा-पालन को कर्त्तव्य कहकर आध्यात्मिक रहस्यो को जानने के लिए मार्ग प्रशस्त किया है।

९ मनुष्य लोक की प्रशसा प्राप्त करना चाहता है, उसकी पहुँच तो सामान्य कार्यों तक ही होती है। मूल्यो का साधक (मुनि) व्यक्ति असाधारण व्यक्ति होता है। अत' उसको अपने क्रान्तिकारी कार्यों के लिये प्रशसा मिलना कठिन होता है। प्रशंसा का इच्छुक प्रशंसा न मिलने पर कार्यो को निश्चय ही छोड़ देगा। आचाराग ने मनुष्य की इस वृत्ति को समझकर कहा है कि मूल्यो का साधक (मुनि) लोक के द्वारा प्रशसित होने के लिये इच्छा ही न करे (६५)। वह तो व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन मे मूल्यो की साधना से सदैव जुड़ा रहे।

साधना की पूर्णता

साधना की पूर्णता होने पर हमे ऐसे महामानव के दर्शन होते हैं जो व्यक्ति के विकास और सामाजिक प्रगति के लिए प्रेरणा स्तम्भ होता है। आचाराग मे ऐसे महामानव की विशेषताओं को बड़ी सूक्ष्मता से दर्शाया गया है। उसे द्रष्टा, अप्रमादी, जागृत, अनासक्त, वीर, कुशल आदि शब्दो से इगित किया गया है। उस द्रष्टा के सबध मे कहा गया है।

द्रष्टा के लिए कोई उपेक्षा नहीं है (३४)। उसका कोई नाम नहीं है (६३)।

उसकी आँखे विस्तृत होती हैं अर्थात् वह सम्पूर्ण लोक को देखने वाला होता है (३८)।

वह बन्धन और मुक्ति के विकल्पो से परे होता है (४३)। वह शुभ-अशुभ आदि दोनो अन्तो से नही कहा जा सकता है, इसलिए वह द्वन्द्वातीत होता है (४६-५७) और लोक मे किसी के द्वारा न छेदा जा सकता है, न भेदा जा सकता है, न जलाया जा सकता है, तथा न मारा जा सकता है (५७)।

वह पूर्ण जागरूकता से चलने वाला होता है, अत वह वीर हिंसा से सलग्न नही किया जाता है (४२)। वह सदैव ही आध्यात्मिकता मे जागता है (४४)।

वह अनुपम प्रसन्नता मे रहता है (४६)।

वह कर्मों से रहित होता है। उसके लिए सामान्य लोकप्रचलित आचरण आवश्यक नहीं होता है (४८)। किन्तु उसका आचरण व्यक्ति व समाज के लिए मार्गदर्शक होता है। आचारांग का शिक्षण है कि जिस काम को जागृत व्यक्ति करता है, व्यक्ति व समाज उसको करे (४३)।

वह इन्द्रियो के विषयो को द्रष्टाभाव से जाना हुआ होता है, इसलिए वह आत्मावान, ज्ञानवान, वेरवान, धर्मवान् और ब्रह्मवान कहा जा सकता है (४५)।

जो लोक मे परम तत्त्व को देखने वाला है, वह वहाँ विवेक से.जीने वाला होता है, वह तनावमुक्त समतावान्, कल्याण करने वाला, सदा जितेन्द्रिय, कार्यों के लिए उचित समय को चाहने वाला होता है तथा वह अनासक्तिपूर्वक लोक मे गमन करता है (५६)।

उस महामानव के आत्मानुभव का वर्णन करने मे सब शब्द लौट आते हैं, उसके विषय मे कोई तर्क उपयोगी नही होता है, बुद्धि उसके विषय मे कुछ भी पकड़ने वाली नहीं होती है (८१)। आत्मानुभव की वह अवस्था आभामयी होती है। वह केवल ज्ञाता-द्रष्टा अवस्था होती है (८१)। □

—६२ ओ टी सी स्कीम,
चरक छात्रावास के पीछे, उदयपुर

साहित्य-वीथी

साहित्य-समीक्षा के इस स्तम्भ मे स्तरीय पुस्तको की समीक्षा प्रकाशित की जाती है। लेखको/प्रकाशको से आग्रह है कि समीक्षार्थ पुस्तक की दो प्रतियाँ प्रेषित करे।

—सम्पादक

नव तत्त्व : छः द्रव्य

सोहनराज कोठारी

चिरंतन तत्त्व

(जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, सवर, निर्जरा, बध, मोक्ष)
एक विशाल जल राशि का विशाल सरोवर,
जिसमे पर्वतो का पानी स्वच्छ निर्मल,
भूतल का गदा, मल सहित जल,
दोनो नालो से सरोवर मे, चिरकाल से आ रहा प्रतिपल,
प्रभो ने नालो को रोक, सरोवर भरने का किया प्रतिकार,
मोरिया बनाकर, अदर के जल को फेक दिया बाहर,
सारा सरोवर हो गया रीता, अनतकाल का सचित पानी बीता,
जीवन को सफल यात्रा का प्रकट हो गया सत्त्व,
और यही प्रक्रिया बन गई, नव तत्त्व।
जीव है, कर्म सहित तालाब पुण्य-पाप का जिसमे है बहाव
संबर ने रोका प्रवेश, निर्जरा ने रखा न अंदर जल का लवलेश,
बंध के पानी से हुआ तालाब खाली
कि आत्मा ने स्वय अपनी सत्ता पा ली

शाश्वत द्रव्य

धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाशास्ति, काल, पुद्गल, जीव
सदा सचेतन अस्तित्व के प्रवाह को, प्रभो ने कहा, जीव,
जिसके तट, बाँध, नहर, तल, पाट, लहर सब समर्थ,
वर्ण, गन्ध, रग, रस, स्पर्श, सचेतन को घेरे रहते, ले कुछ अर्थ,
तट और बाँध ने दी अस्तित्व को स्थिति, नहर ने उसे सहज मे दी गति,
तल और पाट ने दिया अवकाश, लहर के उठने गिरने में हुआ वर्तमान का आभास,
वर्ण, गध, रूप, रस, स्पर्श ने अस्तित्व को दिया आकार
प्रभो ने सभी घेरों के आवरण तोड़ प्रकट किया अस्तित्व निराकार,
इन सबको जिसने लिया जान, छ द्रव्यो का उसे हो गया ज्ञान। □

पूर्व न्यायाधीश, कोठारी निवास, नया पुरा, बालोतरा-३४४०२२

श्री आचारांङ्ग-सूत्रम्

(शस्त्रपरिज्ञा नाम प्रथम अध्ययन : तृतीय उद्देशक)

जिनवाणी

[दिवोपम पुरुषो की अनुपम वाणी से अपने पाठको को लाभान्वित कराने के उद्देश्य से हमने आगम परिचय का स्तंभ प्रारम्भ किया है। भगवान महावीर के द्वादशागी उपदेशो के प्रथम अग श्री आचाराङ्ग-सूत्रम् के प्रथम व द्वितीय उद्देशको से आप परिचित हो चुके है। इस अक मे प्रस्तुत है तृतीय उद्देशक का प्रारभिक अश]

द्वितीयोद्देशक मे पृथ्वीकाय की समीक्षा करने के बाद इस उद्देशक मे क्रम प्राप्त अप्काय का वर्णन करते हैं। अप्काय की समीक्षा के पहिले पूर्वभूमिका रूप मे अनगार की योग्यता स्पष्ट करते है। द्वितीयोद्देशक के अन्तिम सूत्र मे पृथ्वीकाय-समारम्भ से निवृत्त होने वाले को अनगार कहा है किन्तु एतावता अनगार नहीं हो जाता है परन्तु उसमे अन्य गुण भी होने चाहिए। उन गुणो का वर्णन इस उद्देशक के आदि सूत्र मे करते है। इसी प्रकार 'अणगारा मो' हम अनगार है, ऐसा मात्र कथन करने से वास्तविक अनगार-वृत्ति नहीं आ जाती है परन्तु अनगार को तो छोटी-छोटी बातो मे भी पूर्ण विवेक की आवश्यकता है साथ ही साथ सदा अप्रमत्त (जागृत) रह कर अपनी वृत्तियो के प्रति उसकी सूक्ष्म निरीक्षण बुद्धि होनी चाहिये ताकि छोटी-सी भूल भी न हो सके। क्योंकि जरा सी भूल के प्रति की गयी उपेक्षा भूल परपरा को निमत्रित कर लेती है अत· अनगार वृत्ति के लक्षण सूत्रकार सूत्र द्वारा प्रकट करते हैं

से बेमि, से जहावि अणगारे उज्जुकडे, नियायपडिवण्णे, अमाय कुव्वमाणे, वियाहिए, जाए सद्धाए णिक्खते तमेव अणुपालेजा विजहित्त विसोत्तिय।

अर्थात् हे जम्बू! मैं भगवान् से श्रवण कर यह तुझे कहता हूँ कि जो जीवन-प्रपचो को त्याग कर गृहत्यागी अनगार हुआ है, जिसका अन्त करण सरल है, जिसने ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप मोक्ष-मार्ग स्वीकार किया है तथा जिसने छल, दम्भ, कपट का सर्वथा त्याग किया है वही सच्चा अनगार कहा जाता है। तथारूप अनगार को चाहिए कि जिस श्रद्धा के साथ प्रव्रज्या-मार्ग अगीकार किया है उसमे किसी प्रकार की शंका नहीं लाता हुआ यावज्जीवन उसी श्रद्धा का पालन करता रहे।

विवेचन—अनगार के लक्षण बताते हुए सूत्रकार ने प्रथम लक्षण 'उज्जुकडे' बताया है। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि साधु को सर्वप्रथम अपना अन्त करण सरल

बनाना चाहिये क्योंकि हृदय की सरलता के बिना सयम की पात्रता ही नहीं आती है। यही बात अन्यत्र भी कही जाती है कि 'सोही य उज्जुभूयस्स, धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ'। अर्थात् सरल हृदय वाले की ही शुद्धि होती है और शुद्धस्थान पर ही धर्म रह सकता है अत साधु वही है जो जैसा विचारता है वैसा ही बोलता है, जैसा बोलता है वैसा ही आचरण करता है अर्थात् मनसा, वाचा, कर्मणा जो एक होता है वही अनगार है। अन्त करण सरल होने पर अन्य गुणो को टिकने के लिए भूमिका मिल जाती है अत सरल स्वभावी क्रमश सर्वगुणसम्पन्न बन सकता है। इसी तरह इस बात को विशेष पुष्ट करने के लिए 'अमाय कुव्वमाणे' यह विशेषण भी दिया गया है। अर्थात् माया द्वारा अपनी शक्ति का गोपन नहीं करते हुए संयमानुष्ठान करना चाहिये। वहाँ माया शब्द से संयम मे शक्ति का गोपन करने का अर्थ लिया गया है। इस माया-वल्ली को सर्व कषायो की तथा भवभ्रमण की जड़ जानकर समूल नष्ट करना चाहिए।

'जाए सद्धाए' इस सूत्र से सूत्रकार सदा जागृत रहने का उपदेश फरमाते हैं। इसका आशय यह है कि प्रव्रज्या अगीकार करते समय प्राय करके वर्धमान-परिणाम ही होते हैं बाद मे सयमश्रेणी को अङ्गीकार करने पर वर्धमान-परिणाम, हीयमान परिणाम और अवस्थित परिणाम तीनो हो सकते है। वृद्धिकाल और हानिकाल एक समय से लेकर उत्कृष्ट से उत्कृष्ट एक अन्तर्मुहूर्त है। परिणामो की शृखला अन्तर्मुहूर्त तक ही एकरूप रह सकती है पश्चात् उसमे परिवर्तन अवश्य होता है। अवस्थित परिणाम की स्थिति आठ समय की है। यह परिणामो की धारा निश्चयदृष्टि से केवलिगम्य है। यद्यपि प्रव्रज्या अङ्गीकार करने के बाद कोई महाभाग्यवान् प्राणी प्रवर्धमान परिणाम वाला भी होता है क्योंकि जैसे-जैसे श्रुतज्ञानरूपी सागर मे अवगाहन करता है त्यो-त्यो उसकी सवेगभावना बढ़ती जाती है तो भी प्राय ऐसे प्राणी विरले है—प्राय करके परिणामो मे आशिक एव अपेक्षाकृत हीनता आती है इसलिए सूत्रकार वैसी ही प्रबल वर्धमान श्रद्धा रखने के लिए फरमाते है कि यावज्जीवन शकाहीन होकर उसी श्रद्धा का पालन करे। अर्थात् त्याग ग्रहण करने के बाद सदा जागृत रहना चाहिए क्योंकि पहिले के सस्कारो द्वारा सयम मे निर्बलता आ जाने की सभावना रहती है। क्योकि पूर्व सस्कार जब प्रबल होते हैं तब त्याग भाव, दृढ़ वैराग्य और प्रबल सामर्थ्य क्षण भर मे नष्ट हो जाते हैं। ऐसे कई उदाहरण बन चुके हैं जिनमे पूर्व सस्कारो की प्रबलता से आत्मा का पतन हुआ है। विचारो की जरा सी मलिनता चारित्र की सुगध को दूषित कर देती है। अत वीरतापूर्वक अन्तर्द्वन्द्वो पर विजय पाने के लिए आत्मिक गुणो का विकास करते रहना चाहिये। सच्ची वीरता इसी का नाम है कि आभ्यन्तर शत्रुओं को जीतने के लिए आन्तरिक शस्त्रो का उपयोग करते हुए अपनी प्रबल श्रद्धा द्वारा अन्तर्द्वन्द्वो पर विजय प्राप्त की जाय।

कही कही 'विजहित्ता पुव्वसजोग' ऐसा पाठान्तर मिलता है—इसका अर्थ यह है कि माता-पिता, श्वसुर, धन, वैभव आदि पूर्व के सस्कारो को छोड़कर प्रबल श्रद्धा के साथ सयम-पालन करे। इसी आधार पर उपर्युक्त विवेचन समझना चाहिए।

आगे के सूत्र मे यह बताते है कि भूतकाल मे अनेक महापुरुषो ने इस मार्ग का अवलम्बन लेकर आत्म-कल्याण किया है

पणया वीरा महावीहि। लोग च आणाए अभिसमेच्चा अकुओभयं।

अर्थात् इस महान् मोक्षमार्ग मे अनेक महापुरुष पराक्रम कर चुके है। यह मार्ग भूतकाल मे अनेक वीरो द्वारा सेवित होने से शकादि-रहित है। भगवान की आज्ञा से अप्काय जीवो को जानकर उनकी यतना करे। उनके विषय मे पूरा सयम रखे।

विवेचन—भूतकाल मे इस मोक्षमार्ग पर अनेक वीर पुरुष चले है और इष्टस्थान को पाया है यह कहकर शिष्य को इस मार्ग पर चलने मे किसी प्रकार शंका नहीं करनी चाहिये, इस प्रकार का विश्वास दिलाया गया है। यह अनुभूत एव परीक्षित है अत इसमे शंकारहित होकर प्रवृत्ति करनी चाहिए। अकुओभय का अर्थ सयम किया गया है। इसका कारण यह है कि संयम से जन्तुओं को किसी प्रकार का भय नहीं रहता है। अत सयम ही ऐसा है जो दूसरो को निर्भय बना सकता है। सयम द्वारा प्राणी स्वय निर्भय होता है और अन्य को निर्भय बनाता है। प्राणी के अन्तर मे जब प्रेम का अखड स्रोत प्रवाहित होता है तब सारा ससार (छोटा-सा प्राणी भी) उससे निर्भय रहता है। यही सच्ची निर्भयता है। अकुओभय को जब लोक का विशेषण मानते हैं तो यह अर्थ भी सगत ही है कि लोक (अप्काय के जीव) किसी से डरना नहीं चाहता है। वह सदा निर्भय रहना चाहता है अतएव यह कर्त्तव्य है कि हम उसे निर्भय बना दे। अर्थात् उसे मरण-भीरु होने से बचावे। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक प्राणी मृत्यु से डरता है अतएव हमे हमारी तरफ से सयम द्वारा उसे निर्भय बना देना चाहिये।

से बेमि णेव सय लोग अब्भाइक्खेज्जा, णेव अत्ताण अब्भाइक्खेज्जा जे लोय अब्भाइक्खति, से अत्ताण अब्भाइक्खति, जे अत्ताण अब्भाइक्खति, से लोय अब्भाइक्खकति ।

अर्थात्—हे जम्बू! मै कहता हू कि प्राणियो के (प्रसग से अप्काय के जीवो के) चैतन्य का अपलाप नहीं करना चाहिए। इसी तरह आत्मा के अस्तित्व का भी निषेध नहीं करना चाहिए। जो अप्कायादि प्राणियो के चैतन्य का अपलाप करता है वह अपने चैतन्य का अपलाप करता है। जो अपने चैतन्य का अपलाप करता है वही अन्य (जलादि) प्राणियों के चैतन्य का निषेध करता है।

विवेचन—इस सूत्र द्वारा सूत्रकार आत्मा के साथ ही जलकाय मे भी जीव है यह सिद्ध करते हैं। ससार मे अनेक प्रकार के प्राणी हैं और सभी चैतन्य वाले हैं। जिस प्रकार मनुष्यो की आत्मा भी नानाविध कर्मोदय से छोटी-बड़ी काया धारण करती है उसी प्रकार जलादि सूक्ष्म जीवो की भी विविध प्रकार की आकृति होती है अत उन्हे भी अपने समान चैतन्यसम्पन्न समझना चाहिए।

कई वादी अप्काय की चेतनता का अपलाप करते हुए कहते है कि पानी उपयोग की वस्तु होने से केवल घी तेल की तरह उपकरण मात्र है इसमे चेतन नहीं है परन्तु उनका यह कथन मिथ्या है क्योंकि उपकरण (काम मे आने वाला) मात्र से अगर अजीव हो जाते है तो हाथी इत्यादि भी सवारी के उपकरण है इसलिए वे भी अचित होने चाहिए किन्तु वे सचेतन है। उसी तरह जलकाय भी उपकरण होने पर भी सचेतन है।

जिस प्रकार नवीन गर्भ मे उत्पन्न हाथी का शरीर कलल अवस्था मे द्रव रूप होता है किन्तु वह सचेतन है उसी प्रकार द्रवरूप जल भी सचेतन है। सात दिन तक हाथी का शरीर गर्भ मे कलल (पानी रूप) रूप रहता है बाद मे उसमे कठोरता आती है तो सात दिन तक कलल जिस प्रकार सचित्त समझा जाता है उसी तरह द्रवात्मक जलकाय को भी सचित्त समझना चाहिए। तथा जिस प्रकार अण्डे मे रहा हुआ पानी सचित्त है उसी तरह जल भी सचित्त है।

अनुमान द्वारा जल की सचेतना सिद्ध करते हैं—जल सचेतन है क्योंकि शस्त्र द्वारा अनुपहत होते हुए द्रवरूप है, जैसे हाथी के शरीर का कारणरूप कलल। 'शस्त्र द्वारा अनुपहत' इस विशेषण से प्रस्रवण (पेशाब) का निषेध हो जाता है। इसी तरह जल सचेतन है—अनुपहत द्रवरूप होने से—जैसे अण्डे मे रहा हुआ पानी। जल सचित्त है क्योंकि भूमि को खोदने पर स्वाभाविक रूप से यह प्रकट होता है जैसे मेढ़क। भूमि खोदने पर क्वचित् निकला हुआ मेढ़क सचेतन है वैसे ही भूमि खोदने पर स्वाभाविक निकला हुआ जल भी सचित्त है। इत्यादि अनेक अनुमानो द्वारा जल की सचेतनता सिद्ध होती है। इस तरह सचेतन जलकाय का जो अपलाप करते हैं वे मानो अपनी आत्मा का अपलाप करते हैं। एक एक चार्वाक आदि नास्तिक आत्मा का निषेध करते हैं, वे कहते हैं कि पचभूतात्मक शरीर मे ही चैतन्य गुण है इससे व्यतिरिक्त आत्म-तत्त्व पृथक् नहीं है परन्तु उनका यह कथन युक्तिरहित है क्योंकि पंचभूत स्वय जड़ है तो उनसे चैतन्य कैसे प्रकट हो सकता है? जिस प्रकार बालुका से तेल नहीं निकल सकता है उसी प्रकार जड़ से चैतन्य कभी प्रकट नहीं हो सकता। दूसरा दोष यह आता है कि उनके मत मे पचभूत सर्वत्र और नित्य माने गये हैं तो मृतशरीर मे भी उनका सद्भाव है तो वहाँ भी चैतन्य प्रकट होना चाहिये। परन्तु वहा चैतन्य नहीं है इसलिये स्पष्ट प्रतीत होता है कि पचभूतात्मक देह से पृथक् आत्मा नामक द्रव्य है और चेतना उसी का गुण है।

आत्मा का अस्तित्व अनेक प्रमाणो से सिद्ध है। प्रत्येक प्राणी को यह स्वसंवेदन (ज्ञान) होता है कि 'मै हू'। यही सवेदन आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करता है। क्योंकि 'मैं हू' इसमे 'मैं' शब्द आत्मा के लिए ही प्रयुक्त होता है। कदाचित् यह कहा जा सकता है कि यहा 'मैं' शब्द आत्मा को नहीं लेकिन शरीर को बताता है किन्तु यह कथन युक्ति-सगत नहीं है। क्योंकि 'मैं शरीर हू' ऐसा प्रयोग नही होता है बल्कि ऐसा होता है कि

मेरा शरीर है। जिस प्रकार 'मेरा धन' ऐसा कहने से धन उसके मालिक से जुदा प्रतीत होता है ठीक इसी तरह 'मेरा शरीर' यह प्रयोग बतलाता है कि शरीर का अधिष्ठाता कोई न कोई है, जो शरीर का अधिष्ठाता है वही आत्मा है।

अब अनुमानों द्वारा आत्मा की सिद्धि की जाती है—'इस शरीर को ग्रहण करने वाला कोई न कोई द्रव्य है क्योंकि यह शरीर कफ, रुधिर अगोपाग आदि का परिणाम मात्र है। अन्नादि की तरह। जैसे अन्न को ग्रहण करने वाला कोई न कोई है वैसे ही शरीर को ग्रहण करने वाला कोई द्रव्य है। वही द्रव्य आत्मद्रव्य है।

इन्द्रियो को प्रवृत्ति कराने वाला कोई द्रव्य है क्योंकि इन्द्रियाँ करण (साधन रूप) हैं कुठार आदि की तरह। जिस प्रकार कुठार स्वय कोई क्रिया नहीं कर सकता है किन्तु जब कर्त्ता उसका उपयोग करता है तभी वह क्रिया करता है। उसी प्रकार इन्द्रियाँ स्वय पदार्थों को नहीं जान सकती हैं क्योकि वे साधन मात्र हैं। उन इन्द्रियों का उपयोग करने वाला कर्त्ता होना चाहिए वही आत्मा है। इस तरह अनेक प्रमाण सिद्ध आत्मद्रव्य अवश्य है। वर्तमान समाचार पत्रो मे पुनर्जन्म को सिद्ध करने वाली अनेक घटनाएं पढ़ने मे आती है। पुनर्जन्म आत्मसिद्धि का अकाट्य एव प्रबल प्रमाण है। अनेक महर्षियो और तपस्वी जनो ने अपने दीर्घकालीन अनुभव के पश्चात् अपनी साधना के फलस्वरूप यह बताया है कि आत्मद्रव्य है। उन निस्पृह एवं आप्त पुरुषो के वचन कदापि उपेक्षणीय नहीं हो सकते।

आधुनिक वैज्ञानिको ने यह सिद्ध कर दिया है कि जल की एक बिन्दु मे असख्य जीव हैं। जब जल वनस्पति आदि सूक्ष्म चेतना वालो की चेतनता व्यक्त हो रही है ऐसी अवस्था मे आत्मामात्र का अपलाप करना मात्र बकवाद ही है। अत अप्काय को सचेतन समझ कर उनका सयम करना चाहिये।

लज्जमाणा पुढो पास, अणगारा मो त्ति एगे पवयमाणा, जमिण विरू-वरूवेहि सत्थेहि उदयकम्मसमारभेण, उदयसत्थ समारंभमाणा अणणे अणेगरूवे पाणे विहिसति

अर्थात्—हे जम्बू! कितने ही सुसाधु अप्काय की हिंसा से शरमाते हुए प्राणियो को पीड़ा नहीं पहुँचाते है, यह तू देख। कितने ही नामधारी शाक्यादि साधु हम अनगार हैं ऐसा अभिमानपूर्वक कहते हैं परन्तु वे अप्काय के जीवो को, तत्सम्बन्धी क्रिया का आरम्भ करते हुए अनेक प्रकार के शस्त्रो द्वारा पीड़ा पहुचाते हुए अन्य भी अनेक जीवों की हिसा करते हैं।

तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेइया। इमस्स चेव जीवियस्स परिवदणमाणणपूयणाए, जाइमरणमोयणाए, दुक्खपडिघायहेउ, से सयमेव उदयसत्थं समारभति, अण्णेहिं वा उदयसत्थ समारभावेति, अण्णे वा उदयसत्थ समारभते समणुजाणइ, तं से अहियाए, त से अवोहिए।

अर्थात्—हे जम्बू! भगवान् ने इस विषय मे परिज्ञा समझाते हुए फरमाया है कि असंयमी अज्ञानी, इस चञ्चल जीवन को चिरकाल तक टिकाने के लिए प्रशसा, मान और पूजा के लिए जन्ममरण से छूटने के लिए और दुख से छुटकारा पाने के लिए स्वय अप्काय की हिसा करता है, अन्य से करवाता है, करते हुए अन्य को अनुमोदन देता है। यह हिंसा उसके अहित और अज्ञान को बढ़ाने वाली होती है।

से तं सबुज्झमाणे आयाणीय समुट्ठाए सोच्चा भगवओ, अणगाराण वा अन्तिए, इहमेगेसिं णाय भवति, एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णरए इच्चत्थ गढिए लोए जमिण विरूवरूवेहि सत्थे हे उदयकम्मसमारभेण, उदयसत्थ समारभमाणा अण्णे अण्णेगरूवे पाणे विहिसइ।

अर्थात्—सर्वज्ञ देव अथवा श्रमण जनो से आत्मविकास के लिए आदरणीय ज्ञान दर्शन एव चारित्र को प्राप्त करके कितनेक जीव यह समझते है कि यह हिसा आठ प्रकार के कर्मों के बन्धन का कारण है, मोह का कारण है, जन्म-मरण का हेतु है और नरक मे जाने का कारण है। किन्तु जो प्राणी खानपान, कीर्ति, लालसा आदि मे अति गृद्ध हैं वे भिन्न-भिन्न प्रकार के शस्त्रो द्वारा अप्काय के समारम्भ से अप्काय के जीवो की हिसा करते हुए अन्य जीवो की भी हिंसा करते है।

से बेमि, सति पाणा उदयनिस्सिआ, जीवा अणेगे। इह खलु भो! अणगाराणं उदयजीवा वियाहिया। सत्थ चेत्थ अणुवीइ, पास। पुढो सत्थ पवेइय।

अर्थात्—हे जम्बू! पानी के अन्दर और भी अनेक मत्स्यादि प्राणी रहे हुए हैं। परन्तु जैन शासन मे पानी स्वय सजीव कहा गया है (इसलिए साधुओं के लिए शस्त्रपरिणत जल ही कल्पनीय कहा गया है) अप्काय के अनेक भिन्न-भिन्न शस्त्र कहे गये हैं उनका पूरा विचार करना चाहिए।

विवेचन—कई वादियो के मत मे जलवर्ती बेइन्द्रियादि जीव ही जीवरूप माने गये हैं। वे पानी को जीवरूप नहीं मानते किन्तु जैनागमो मे पानी स्वय भी सजीव कहा गया है। यहाँ यह प्रश्न होता है कि अगर जलमात्र सजीव है तो जलपान करने से साधु भी प्राणातिपात के भागी होने चाहिए। इसका यो समाधान किया जाता है कि जैनागमो मे तीन तरह के अप्काय कहे गये है १ सचित्त २ मिश्र और ३ अचित्त। इनमे जो अचित अप्काय है वही साधुओं के लिए कल्पनीय है, सचित्त और मिश्र नहीं। फिर प्रश्न होता है कि यह अचित्त कैसे होता है? स्वाभाविक अचित्त होता है या शस्त्र के सम्बन्ध से? तो कहा जाता है कि दोनो तरह से अचित्त होता है। जो स्वभावत अचित्त होता है तथा जिसमे बाह्य शस्त्र का सम्पर्क नहीं हुआ है वह जल केवली, मन:पर्यवज्ञानी एव अवधिज्ञानी अचित्त जानते हुए भी ग्रहण नहीं करते क्योंकि उनके ऐसा करने से मर्यादाभङ्ग होने का डर रहता है। जैसा कि गुरुपरम्परा से सुना जाता है कि भगवान महावीर ने पूर्ण निर्मल जल से उल्लसित

तरगो वाला, काई तथा त्रसादि जीव रहित और जिसमे पानी के सभी जीव अचित्त हो गये थे ऐसा एक अचित्त जल से भरा हुआ बड़ा भारी कुण्ड देखकर भी, प्यास से पीड़ित अपने शिष्यो को वह पानी पीने की आज्ञा न दी। कारण यह है कि अचित्त पानी का निश्चय विशिष्टज्ञान द्वारा ही हो सकता है श्रुतज्ञान द्वारा नहीं। साधुओं को श्रुतज्ञान के आधार से ही चलने का होता है इसलिए श्रुतज्ञान की प्रमाणता के लिए और मर्यादा रक्षण के लिए प्रभु ने वह अचित्त जल पीने की आज्ञा न दी। सामान्य श्रुतज्ञानी तो ईन्धनादि बाह्य शस्त्रो के सम्पर्क से ही जल को अचित्त हुआ जानता है इसलिए बाह्यशस्त्र से जिसके वर्ण, गध, रस और स्पर्श बदल गये हों वही जल मुनियो के लिए कल्पनीय है। अप्कायशस्त्र ईन्धन, उत्सिंचन, उपकरण धोना आदि अनेक प्रकार के कहे गये है। सो स्वयं विचारने योग्य है। 'पुढोपास पवेदित' ऐसा पाठांतर भी मिलता है इसका अर्थ यह है कि विभिन्न शस्त्रो द्वारा परिणत अचित्त जल का ग्रहण करना कर्मबन्धन का कारण नही है। □

एहसास

इन्द्रप्रकाश श्रीमाली

ताकत मिली थी तुमसे, कि तूफान सह गया।
नदिया का सारा पानी, आँखो से बह गया।।

कुछ कहना है तुमको, तो कह दो जुबां से।
कुछ न कहते-कहते, लो मैं सब कह गया।

न तन मे कोई पीड़ा, न दिल मे कोई दर्द।
जीने का अब तो जग मे, कुछ न रह गया।।

उसका भी एक खयाल था, इसका भी एक ख्वाब है।
जमा किए जो सब कुछ, वही मे रह गया।।

तिनका-तिनका जोड़कर, बनाया जो घौंसला।
रेशा-रेशा हुआ, जिसको करके तह गया।। □

सहायक केन्द्र निदेशक, आकाशवाणी, वीकानेर ३३४००१

सबसे बड़ा पापी

यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र'

शिवपुर का राजा शिवसिह था। वह बुद्धिमान बहुत था परन्तु उस पर कुछ न कुछ सनक सवार हो जाया करती थी। सच मे उसे दूसरो को दु ख देने मे आनद आता था। परिणामस्वरूप वह प्रजा का सही तरह से पालन-पोषण भी नही कर पाता था। उसकी सत्ता मे लोग दु खी ही थे। एक शौक उसे और था। वह गहरे व ऊट-पटाग प्रश्न पूछता था। जवाब देने वाला यदि सही उत्तर नही दे पाता था तो वह उसे दड देता था।

उससे लोग बहुत दु खी थे। पर कहावत है 'राजा के सामने किसका जोर चले।' कौन उसे समझाए। दरबारी भी सभी चापलूस थे।

एक दिन राजा ने कुछ प्रश्न तैयार किये। फिर ढिंढ़ोरा पिटवा दिया —'इन प्रश्नो का जो सही उत्तर देगा, उसे मै अपना आधा राज्य दे दूगा। यदि उत्तर सही नहीं हुआ तो उसे आजीवन जेल मे डाल दूगा।' दिन बीतते गये परन्तु कोई भी उत्तर देने नहीं आया।

उसी शहर मे गुणीराम नामक विद्वान रहता था। वह बहुत ही विनम्र, सरल और शिष्ट था। उसके शिष्यो ने उससे कहा, 'गुरुवर! राजा को अपने प्रश्नो पर वड़ा दभ है। वह प्रश्नो के जरिए पहले लालच देता है, फिर सही उत्तर न पाकर दड देता है। इसको सबक सिखाना चाहिए।'

गुणीराम ने उन्हे आश्वस्त किया कि वह राजा की अकल ठिकाने ला देगा।

गुणीराम के दो बेटे थे। सूर्य और चन्द्र। एक की उम्र 15 वर्ष व दूसरे की 13 वर्ष थी। वे भी बड़े बुद्धिमान थे।

एक दिन गुणीराम अपने दोनो पुत्रो को लेकर राजा के दरबार मे पहुँचा।

राजा ने पडित को देखकर नमस्कार किया। पडित ने भी राजा की जय-जयकार की।

'कैसे पधारे पडित जी ?'

'आपके प्रश्नो का उत्तर देने।'

'और इन बालको को साथ क्यो लाये हैं ?'

'महाराज! पहले आपके प्रश्नो के उत्तर देने की ये बालक चेष्टा करेगे।'

'अच्छा!' राजा चौंक पड़ा।

'हाँ।'

'सही उत्तर न देने का दड आप जानते हैं?'

'पुरस्कार व दंड दोनो को हम अच्छी तरह जानते हैं।'

'राजा ने अपनी मूछो पर ताव दिया। फिर कहा, 'मेरा पहला प्रश्न कि पहले दिन बना या रात।'

'दोनो साथ-साथ बने महाराज।' बालक सूर्य ने उत्तर दिया, 'क्योंकि सृष्टि मे पहले अधकार ही था।'

'प्रजा विद्रोह क्यो करती है?'

'जब रक्षक-भक्षक बन जाते हैं।' बालक चंद्र ने कहा।

राजा ने राजगुरु से पूछा, 'प्रश्नो के उत्तर सही हैं?'

'हा महाराज।'

राजा का मुह उतर गया। गुणीराम ने कहा, 'महाराज! आप उदास हो गये। आपका आधा राज्य गया। हा, आप मेरे एक प्रश्न का उत्तर दे देगे तो मैं आपको आपका आधा राज्य वापस दे दूगा।

'कौन सा प्रश्न?' राजा ने पूछा।

'सबसे बड़ा पापी कौन है?'

'चरित्रहीन।' राजा ने कहा।

गुणीराम ने मुसकरा कर कहा, 'नहीं महाराज, सबसे बड़ा पापी वह है जो दूसरे को बिना कारण सता कर आनंद लेता है। आप हार मानते है।'

राजा ने हां मे सिर हिलाया।

गुणीराम ने कहा, 'महाराज। मुझे राज्य नहीं चाहिए पर आप प्रतिज्ञा करे कि भविष्य मे आप ऐसे प्रश्न नहीं करेगे तथा प्रजा की भलाई के लिए कार्य करेगे। प्रजा सुखी होती है तो राजा की उम्र बढ़ती है। कारण प्रजा अपने राजा को आशीषे देती हैं।

राजा ने सिहासन से उठकर गुणीराम को गले से लगा लिया। कहा, 'आपने मेरी आखे खोल दी पडित जी।'

पडितजी को राज पडित बना दिया गया। 

आशालक्ष्मी, नया शहर, बीकानेर 334004

अंतः प्रज्ञा का संप्रत्यय

राजनारायण व्यास

हमारे देश मे चिन्तन आर मनन का परम्परा पर्याप्त दीर्घ है। दर्शन के माध्यम से इस ब्रह्माड की आधारभूत मूल सत्ता के ज्ञान की कामना हमे वेदो मे भी अपने सुविकसित रूप मे उपलब्ध होती है। मत्र द्रष्टा ऋषियो की ईश्वर से असत्य से सत्य की ओर तथा अधकार से प्रकाश की ओर ले चलने की प्रार्थनाओं को भी इसी सदर्भ मे भली-भाति समझा जा सकता है। मानवीय सभ्यता के उस प्रारम्भिक युग से आज तक सतत रूप से इस देश मे सत्यानुसधान का यह पवित्र व महत्त्वपूर्ण कार्य निर्व्यवधान चलता रहा है। कई अन्य विशेष रूप से पश्चिमी राष्ट्रो मे दर्शन के विकास के इतिहास का अवलोकन करने पर कुछ ऐसे कालखण्ड भी हमे दृष्टिगत होते है जिनमे दर्शन का विकास पूर्णतया अवरुद्ध नहीं तो मृतप्राय अवश्य हो गया था परन्तु भारत मे इस चिन्तन यात्रा मे हमे ऐसा पूर्ण विराम कभी भी दृष्टिगत नहीं होता। वैदिक ऋषियो से आधुनिक मनीषियो तक सभी ने इस परम्परा मे यथाशक्ति योगदान किया है। दृष्टि से अत प्रज्ञा की शक्ति एव महिमा पर विचार वर्तमान युग की एक विशेष देन है जिसका श्रेय राजनेता, दार्शनिक, देश के पूर्व राष्ट्रपति डॉक्टर राधाकृष्णन को जाता है। यद्यपि स्थूल दृष्टि से उन्हे अद्वैत-वैदान्त विचारको के वर्ग मे परिगणित किया जाता है तथापि उनके चिन्तन मे कतिपय ऐसे मौलिक सप्रत्यय भी उपलब्ध होते है जिन पर पृथक् से विचार किया जा सकता है। अत प्रज्ञा से सबधित उनका चिन्तन इसी कोटि मे आता है।

अपने ग्रन्थ 'फ्रेग्मेण्ट्स ऑफ ए कन्फेशन' मे डॉ राधाकृष्णन ने लिखा है, 'जबकि उन सबके विचारो से जिन्हे मैंने पढ़ा है, गभीर रूप से प्रेरित हुआ हूँ। मेरी दार्शनिक चिन्तना आध्यात्मिक अनुभव से उत्पन्न हुई है, तार्किक रूप से निर्धारित पूर्वाग्रहो से निर्धारित नहीं हुई है। यद्यपि स्वय राधाकृष्णन अपने को किसी विशेष दर्शन-सम्प्रदाय या सिद्धान्त का प्रणेता नहीं मानते तथा उनका यह कथन भारतीय मनीषियो मे सामान्यतया उपलब्ध होने वाली इस विनम्रता की भावना पर ही आधारित है जिसके कारण किसी भी भारतीय विचारक ने अपने सिद्धान्त को मौलिक नहीं माना है। कपिल-कणाद, शकर-रामानुज, दयानद-विवेकानन्द आदि विचारको के विचारो मे पर्याप्त मतभेद होने पर भी इनमे से प्रत्येक का दावा यही है कि उसने किसी मौलिक या नूतन विचारधारा का प्रणयन नहीं किया है अपितु सहस्राब्दियो से, वैदिक परम्परा से चले आ रहे सिद्धान्तो के यथार्थ अभिप्राय को स्पष्ट करने का प्रयास मात्र किया है। जो भी हो अत प्रज्ञा का सप्रत्यय चिन्तन की एक नयी दिशा ही नहीं है, डॉ राधाकृष्णन की ज्ञान मीमासा का आधार भी है।

श्री राधाकृष्णन् ज्ञान प्राप्ति के तीन प्रकारो को मान्यता देते है। इनमे प्रत्यय या इन्द्रियजन्य ज्ञान तथा बौद्धिक या तर्काधारित ज्ञान के ये दो प्रकार तो भारतीय दर्शन में प्रत्यक्ष व अनुमान के रूप मे एवं पश्चिम मे बुद्धिवाद व अनुभववाद के केन्द्रीय सिद्धान्तों के रूप में बहु जनमान्य रहे हैं परन्तु वे ज्ञान का एक तीसरा स्रोत भी स्वीकार करते हैं जिसे वे अन्त' प्रज्ञा या इन्ट्यूशन नाम देते है। उनके अनुसार इन्द्रियां व बुद्धि दोनो भौतिक जगत् के ज्ञान मे तो उपयोगी हो सकती हैं परन्तु परम सत्ता के ज्ञान के विषय मे ये दोनो ही अपर्याप्त हैं। यह ज्ञान तो केवल अन्त' प्रज्ञा द्वारा ही संभव है।

अन्त. प्रज्ञात्मक ज्ञान—यह ज्ञान सकल्पनात्मक ज्ञान से भिन्न है। इसके द्वारा हम वस्तुओं को उनके यथार्थ रूप मे देखते हैं। इसलिये यह भी अव्यवहित ज्ञान है। केवल प्रत्यक्ष ज्ञान ही अव्यवहित नही होता है। हिन्दू दार्शनिक प्रत्यक्ष या ऐन्द्रिक ज्ञान की भाति अत प्रज्ञा को भी अव्यवहित मानते है और उसे अनुरोध ज्ञान कहते हैं। अत प्रज्ञा की दूसरी विशेषता यह है कि मन और यथार्थ वस्तु के बीच घनिष्ट ऐक्य से ज्ञान पैदा होता है। इसमे इन्द्रियो का माध्यम भी स्वीकार नहीं किया जाता है। अत प्रज्ञा मे वस्तुओं के साथ तादात्म्य के द्वारा सत्य का अविकल ज्ञान होता है। ज्ञात वस्तु ज्ञाता के 'स्व' का ही एक अग होती है, उसके बाहर की वस्तु नही। अत. तार्किक ज्ञान की भाति इसमे द्वैत नहीं होता है। तीसरी महत्त्वपूर्ण बात यह भी है कि वृहत्तर स्वत सत् ज्ञान मे जो कुछ छिपा है वह विचार और भाषा के माध्यम से आशिक रूप मे ही प्रकट किया जा सकता है। विचार-यथार्थ सत्ता को पूर्णत' प्रकट करने मे असमर्थ है। चौथी ध्यान रखने की बात यह है कि अत' प्रज्ञा प्रत्यक्ष और अनुमान का विकल्प भी हो सकती। अत प्रज्ञा से किसी विशेष वस्तु का ही ज्ञान नहीं होता है बल्कि जिस वस्तु को हम सामान्य रूप से इन्द्रियो द्वारा जानते है या-बुद्धि द्वारा अनुभव से समझते हैं वह भी अन्त प्रज्ञा से जानी जा सकती है। वस्तुत' हम किसी भी प्रकार की यथार्थ वस्तु को सीधा जान सकते है।

डॉ. राधाकृष्णन् ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'एन आइडियलस्टिक व्यू ऑफ लाईफ' मे लिखा है, जीवन की गम्भीरतम और गुह्यतम वस्तुओं का ज्ञान हमे अन्त' प्रज्ञात्मक अवबोध के द्वारा ही होता है। हम उसकी सत्यता पर विश्वास कर लेते है। उसके लिये तर्क नहीं करते है।

अन्तः प्रज्ञा और कल्पना—कल्पना और अन्त प्रज्ञा मे बहुत अन्तर है। कल्पना की विषय-वस्तु यथार्थ नहीं होती है जबकि अन्त' प्रज्ञात्मक बोध यथार्थ वस्तु का ही होता है। अन्त' प्रज्ञा द्वारा ज्ञान वस्तु की सत्ता हम अपनी इच्छाओं और कल्पनाओं से बदल नहीं सकते है। एक ऐसी वस्तु भी होती है जिसे हम सरलतम प्रत्यक्षीकरण द्वारा नहीं जान सकते हैं किन्तु उसका ज्ञान हमे फिर भी होता है। अन्त'

प्रज्ञा मे हम वस्तु की यथार्थता शरीर की आखो से न देखकर आत्मा की आखो से देखते है। इस प्रकार प्रत्यक्ष ज्ञान का अतीन्द्रिय क्षेत्र मे विस्तार ही अन्त प्रज्ञा है।

अन्तः प्रज्ञा और बुद्धि—अन्त प्रज्ञा को सही अर्थ मे समझने के लिये बुद्धि से उसका सम्बन्ध जानना बहुत आवश्यक है। सर्वप्रथम बुद्धि क्रिया के लिये आवश्यक है। बौद्धिक चेतना क्रियात्मक होती है। क्रिया तब तक सम्भव नहीं है जब तक यथार्थ से उसके कुछ पहलू पृथक् न कर लिये जाये। विचार भी प्रथक्करण ही है। इसके विपरीत यदि हम यथार्थवस्तु के आन्तरिक स्वरूप को जानना चाहते हैं तो हमें सारे व्यक्तित्व का उपयोग करना पड़ेगा, यही अन्त प्रज्ञा है। बुद्धि उसका एक भाग है। अन्त प्रज्ञा मे यथार्थ का सजीव प्रवाह विद्यमान है और तर्क स्थितिशील सकल्पनाओं की एक प्रणाली है। अत विचार उपयोगी है किन्तु सत्य नहीं है, जबकि अन्त प्रज्ञा सत्य है चाहे वह उपयोगी न हो।

दूसरे, बौद्धिक ज्ञान की सत्यता की परीक्षा की जाती है। हम अपने सिद्धान्तो की पुष्टि की प्रतीक्षा करते हैं। कारण यह है कि उसमे अव्यवहित अनुभव की विशिष्टता नही होती है। अन्त प्रज्ञा अव्यवहित होती है। न उसकी पुष्टि करने की आवश्यकता है और न हम उसकी पुष्टि कर ही सकते है। उस पर सदेह करने का विवाद उत्पन्न नहीं होता है। अन्त. प्रज्ञात्मक ज्ञान की पुष्टि हमारी नाड़ियो के स्पंदन मे ही होती रहती है।

तीसरे, बुद्धि द्वारा प्राप्त ज्ञान कभी पूर्ण नहीं होता है। वह यथार्थ सत्ता का एक प्रथक्-कृत पहलू होता है। वह अपूर्ण होने के कारण अधिकाधिक बढ़ता रहता है। अन्त प्रज्ञा एकमात्र पूर्ण ज्ञान है। उसके विकसित होने की कोई संभावना नही होती है। वह हमारी गहनतम सत्ता की अन्तिम दृष्टि है।

चौथे, अन्त प्रज्ञा सुनिश्चित तो होती है किन्तु सचरणीय नहीं होती है। बुद्धिगत ज्ञान की स्थिति इससे विपरीत है। यदि ज्ञान की कसौटी सचरणीयता मानी जाये तो अन्त प्रज्ञा ज्ञान की परिधि मे न आ सकेगी। डॉ राधाकृष्णन् सचरणीयता की बजाय सुनिश्चितता को ही ज्ञान की सच्ची कसौटी मानते है। इसलिये उनके मत से अन्त प्रज्ञा ही वास्तविक ज्ञान है। भाषा और प्रतीक अपूर्ण होने के कारण उसे यथार्थत अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता है। उसे काल्पनिक कथाओं, बिम्बो, साहित्य और कला के द्वारा किसी अश तक प्रकट किया जाता है।

पाचवे, उपयोग की दृष्टि से बुद्धि और अन्त प्रज्ञा दोनो का अपना महत्त्व है। अपने अपने प्रयोजनो के लिये दोनो ही उपयोगी हैं। बौद्धिक ज्ञान से हम संसार की परिस्थितिया जानते हैं और उन्हे अपने उद्देश्य की पूर्ति के हेतु नियत्रित करते हैं। वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानने मे यह ऊहापोहमय ज्ञान सहायक नहीं होता है। उसके लिये हमे अधिक ऊपर उठकर अन्त प्रज्ञात्मक अन्तर्दृष्टि का प्रयोग करना

पड़ेगा। किसी वस्तु का सीधा बोध या उसको सरल और दृढ़ एकाग्र दृष्टि से देखना ही अन्त· प्रज्ञा है।

छठे, बुद्धि और अन्त प्रज्ञा मे कोई विरोध नहीं है। अन्त' प्रज्ञा की बुद्धि के साथ लगभग वही सम्बन्ध है, जो बुद्धि का इन्द्रिय ज्ञान के साथ है। यद्यपि अन्त प्रज्ञा बुद्धि से ऊची चीज है किन्तु वह उसके विपरीत नही है। 'विमार्शात्मक ज्ञान इस सम्यग्ज्ञान की तैयारी है।' अन्त प्रज्ञा तर्क विरोधी नहीं है बल्कि तर्क से ऊपर है। अन्त प्रज्ञा और बुद्धि के बीच निरन्तरता का सार टूटता नहीं है। तर्क से अन्त प्रज्ञा की ओर जाने का तात्पर्य अतर्क की ओर बढ़ना नहीं है। अन्त प्रज्ञा मे वह गम्भीरतम तर्क है जो मनुष्य-प्रकृति की क्षमता के अन्तर्गत आ सकता है।

सातवे, बुद्धि और अन्त प्रज्ञा दोनो का सम्बन्ध व्यक्ति की आत्मा के साथ है। बुद्धि केवल उसके एक विशिष्ट भाग का उपयोग करती है जबकि अन्त प्रज्ञा सम्पूर्ण व्यक्तिगत और आत्मा का उपयोग करती है। आत्मा के स्तर पर पहुचकर दोनो सश्लिष्ट हो जाती हैं, दोनो का कार्य परस्पर निर्भर हो जाता है। परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाली वस्तुओं का सश्लेषण करने वाली बुद्धि स्वय अन्त प्रज्ञा द्वारा प्रेरित होती है। हर अन्त प्रज्ञा मे कुछ बौद्धिक तत्त्व विद्यमान रहता है। यदि अन्तः प्रज्ञात्मक सत्य तर्कानुसारी सत्य सिद्ध नहीं किये जा सकते तो भी यह तो सिद्ध किया ही जा सकता है कि वे तर्क विरुद्ध नही है, बल्कि तर्क के अनुकूल है।

अन्त प्रज्ञा की आवश्यकता—केवल ऐन्द्रिक और तार्किक ज्ञान जीवन के लिये पर्याप्त नहीं है। कुछ वस्तुए ऐसी है जिनको हम इनके द्वारा नही जान पाते हैं। उनके लिये अन्त प्रज्ञा की आवश्यकता है। सर्वप्रथम, यदि हम इन्द्रियो और बुद्धि के द्वारा ससार को समझने का प्रयत्न करे तो यह वस्तुओं का एक ऐसा समुदाय प्रतीत होता है जिसमे से वस्तुएँ न्यूनाधिक परस्पर सम्बद्ध हैं। किन्तु हमारी अन्त प्रज्ञा इस उलझन भरे विश्व से परे एक सुव्यवस्थित सत्ता को स्वीकार करती है। वह हमारे विश्वास की चीज है, तर्क की नहीं। तर्क बुद्धि जिस एकत्व और सहस्तरता को जानने का प्रयत्न करती है और नही जान पाती है, उसे हम अन्त· प्रज्ञा से जान सकते हैं। दूसरे, तर्क-बुद्धि का आधार अन्त प्रज्ञा ही है। हमारा समूचा तार्किक जीवन एक अधिक गहरी अन्तर्दृष्टि के आधार पर विकसित होता और आगे बढ़ता है। परीक्षा करने पर यह सत्य भी सिद्ध होता है।

यदि समस्त ज्ञान अपनी प्रामाणिकता के लिये किसी बाहरी कसौटी पर ही निर्भर हो, तब कोई भी ज्ञान प्रामाणिक नहीं रहेगा। एक चीज दूसरी पर निर्भर है और दूसरी तीसरी पर, इस प्रकार एक अनन्त शृखला से बचने का एक उपाय है। वह स्वत' प्रमाण है। तीसरे, सत्य की कसौटी तार्किक प्रमाण नहीं वरन् अन्त प्रज्ञा

ही है। सत्य मन का स्वाभाविक नियम है। यदि मन शुद्ध और निर्मल हो, उसमें विकार न उत्पन्न हुए हो तो उसमे यथार्थ का सच्चा रूप मिल जाता है। आवेग और स्वार्थ मेघ की भाति आत्मा के सूर्य को आच्छादित कर लेते हैं, तभी असत् विचार उत्पन्न होते है और हम अंधकार मे भटक जाते है। तार्किक ज्ञान मे जो कुछ सत्यता होती है वह अन्त प्रज्ञा के सहयोग के कारण ही। चौथे, आचारशास्त्र अन्त प्रज्ञा पर ही अवलम्बित है। उसका स्वत सिद्ध सिद्धान्त कि, प्रकृति अन्तत बुराई और पाप से घृणा करती है और अच्छाई के लिये प्रयत्न करती है, तर्क से सिद्ध नही किये जा सकते है। हमारी अन्त प्रज्ञा ही ससार को भद्र मानती है। हम यह मानकर चलते है कि जीवित रहना अच्छा है और यह ब्रह्मांड हमे निराश नहीं करेगा। इस बात पर यदि मनुष्य को विश्वास न होता तो आचार-शास्त्र का भवन कब का ढह गया होता। फिर अन्त' प्रज्ञा का सम्बन्ध आत्म-ज्ञान से होता है। सब मान्यताओं की अन्तिम मान्यता यह है कि हमारे भीतर एक आत्मा है, मनुष्य मे ईश्वर का वास है। जीवन ईश्वर है और उसका प्रमाण भी स्वय जीवन ही है। यदि हम अपने भीतर किसी जगह पूर्ण निश्चय से यह अनुभव न करते कि ईश्वर है तो हम जी ही नही सकते।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जहा भारतीय चिन्तको की परम्परा मे डॉ राधाकृष्णन् एक विशेष गरिमा व सम्मानपूर्ण स्थान के अधिकारी हैं वही उनके समूचे दर्शन-तत्र मे अन्त प्रज्ञा का सम्प्रत्यय न केवल यथार्थ ज्ञान के एक मात्र स्रोत के रूप मे ज्ञानमीमासीय दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण सम्प्रत्यय है अपितु उनके द्वारा निर्धारित तत्त्व या सत्ता के साक्षात्कार की एक ऐसी प्रविधि होने के नाते जो अपने स्वरूप मे कुछ रहस्यात्मक भी है इसका तत्त्व मीमासीय महत्त्व भी असदिग्ध है। □

प्राध्यापक, दर्शन शास्त्र,
एम एस कॉलेज, बीकानेर (राज)

रचनाकारों से

रचनाकारो से अनुरोध है कि वे अपने आलेख, कविता, कहानिया फुलस्केप कागज के एक ओर सुस्पष्ट अक्षरो मे लिखकर अथवा टकित करवाकर ही भेजे। अस्वीकृत रचनाओं को लौटा पाना हमारे लिये सभव नहीं होगा अत लेखक रचना की एक प्रति अपने पास सुरक्षित रखे। सामान्यत· प्रकाशित रचनाओं पर मानदेय दिये जाने की व्यवस्था है।

—सम्पादक

'एक गीत माटी का गायें....'

सावित्री परमार

नीला-नीला गगन
महकता मंद पवन
कितने दिन के बाद मिला है,
आओ साथ बैठकर
मन के क्षण दोहरायें
एक गीत मौसम का गायें।
भूल गये क्यों,
साथ-साथ हम रहे
सदा से एक गाव मे,
यह भी सच है
हारे-थके सग मिल वैठे
द्वार नीम की छांव मे,
सास-सास चदन,
सौंधे से मधुर सपन,
शाख-शाख कचनार खिला है,
सुख-दुख की बातो से
दुख-संकट दुलरायें,
एक गीत वासती गाये।
याद करो जब
साथ हसे तो लगा
खिलखिला उठा हिमालय,
साक्षी है आकाश
कि जब भी दर्द सहे तो लगा
कही मन हुआ शिवालय,
बरस रहा खेतो में कुंदन,
विवायित नदिया का दरपन,
खुली पाख को क्षितिज मिला है,

एक-दूसरे की पीड़ा को
सहयोगी बनकर सुलझाये,
एक गीत फसलो का गाये।
भूल न जाना
जीवन का सगीत हमारा
अनुरागी बाहो ने बाधा,
युग-युग से ही
नैसर्गिक रिश्तो का बधन
मन के सदर्भो ने साधा,
चारो ओर समय का वदन,
कण-कण मे अकुराया नदन,
खोल पाखुरी कवल खिला है
द्वार-द्वार तुलसी के आगन
सकल्पो के स्वर बिखराये,
एक गीत माटी का गाये।

□

—पालीवाल भवन
खजाने वालो का रास्ता,
चादपोल बाजार, जयपुर ३०२००१

आप्तोपज्ञमनुल्लघ्यमदृष्टेष्ट विरोधकम्।
तत्त्वोपदेशकृत् सार्वशास्त्र कापथघट्टनम्।।

शास्त्र वही है जो आप्त का कथन हो, तर्क या उक्ति से जिसका उल्लघन न हो सकता हो, जो प्रत्यक्ष या अनुमान प्रमाण से विरुद्ध न हो, तत्त्व का उपदेशक हो, प्राणिमात्र का हित करने वाला हो और कुमार्ग का नाशक हो।

कुंकुम के पगलिये

आचार्य श्री नानेश

आचार्य श्री नानेश जैन आगमो और शास्त्रो के मर्मज्ञ विद्वान और गूढ़ व्याख्याता होने के साथ-साथ सृजनात्मक समता के धनी भी है। आपकी साहित्य-साधना समता दर्शन, वीतराग भावना और मानव कल्याण की भावना से परिपुष्ट तो होती है, आत्म-रमण की सहज और सरस प्रेरणा देने की भी वह अनोखी समता रचती है। आचार्य श्री नानेश के ऐसे प्रेरक साहित्य से अपने पाठको को परिचित कराने के उद्देश्य से हमने उनकी प्रसिद्ध कथाकृति, 'कुकुम के पगलिये' का धारावाहिक प्रकाशन आरम्भ किया है। प्रस्तुत है आगे की किश्त—

पिछले अक मे आपने पढ़ा कि मजुला ने जगल की अपनी झोपड़ी मे ही एक सुन्दर सुकुमार पुत्र को जन्म दिया। जन्म देने के थोड़े समय उपरान्त ही मजुला ने अपने पुत्र को वृक्ष की एक ऊँची टहनी पर झोली मे सुला दिया और स्वय शरीर प्रक्षालन हेतु पास ही के एक सरोवर तट पर जा पहुँची। सरोवर पर उसने अपने वस्त्रो व शरीर को शुद्ध किया। तत्पश्चात् जैसे ही वह लौटने को उद्यत हुई कि एक पागल हाथी ने अपनी सूंड से उसे ऊपर उठाकर सरोवर मे फेक दिया। दरअसल वह पागल हाथी जगल मे कुछ दूरी पर स्थित चन्द्र नगर के राजा जयशिखर का था। पागल हाथी के पाव देखते-देखते राजा जयशिखर व उसके सैनिक जब सरोवर के पास पहुचे तब उन्होंने वहा मजुला को मूर्च्छित अवस्था मे पड़ा देखा। मजुला के रूप पर मुग्ध हो राजा जयशिखर अपना होश खो बैठा और तत्काल चिकित्सा का आदेश दे दिया. ।)

मूर्च्छा हटने पर मजुला ने ज्योही नेत्र खोलकर चारो ओर देखा, वह एक विचित्र प्रकार के आश्चर्य मे डूब गई। याद आया उसे अपने लाल का भोला सा मुखड़ा, उसे झोली मे सुलाकर सफाई के लिये सरोवर पर जाना और लौटते हुए एक पागल हाथी का सामने आना व सूड मे पकड़कर उसे ऊपर उछालना। लेकिन उसके बाद क्या हुआ, उसे कुछ भी याद नहीं आया। परन्तु विचित्र आश्चर्य तो उसे यह था कि वह ऐसे भव्य भवन मे कैसे पहुच गई ?

उसने अपनी नजर चारो ओर घुमाई। राजसी वैभव की साज सज्जा थी। अजीब ढग से वेश धारण किये दासिया सेवा मे खड़ी थी। वह स्वय भी एक सोने से मढ़े पलंग के नरम-नरम गद्दो पर सोई हुई थी। यह सब देखकर वह शंका करने लगी

कि अवश्य ही किसी देव अथवा राजा ने उसका अपहरण कर लिया है। ऐसा विचार आते ही चिन्ता की रेखाएं उसके चेहरे पर घिर आई कि न जाने वह किन परिस्थितियो की पकड़ मे जकड़ ली गई है। न जाने उसके नवजात का क्या हाल-बेहाल हो रहा होगा ?

मजुला को सचेतन होते हुए देखकर सामने खड़ी दासियों मे हलचल मच गई। राजवैद्य भी प्रसन्न होते हुए उठ खड़े हुए और उसे शक्तिदायक नई औषधि पिलाने लगे। दासियो को राजा जयशिखर के निर्देश मिले हुए थे अत नवागता को समझाने तथा उसके मन को राजा के मन के अनुकूल बनाने की उनमे होड़-सी मच गई। एक अधिक बुद्धिशालिनी दासी ने पहल की। मजुला के अनुपम लावण्य से अत्यधिक प्रभावित होते हुए उसने अतीव शिष्टता से निवेदन किया —

'ओ हो देवीजी, आप जैसी रूपवती इस ससार में बिरली ही हो सकती है और यह किसी बिरले पुरुष का ही भाग्य होता है कि उसे आप जैसी नारी प्राप्त हो। हमारे राजा जयशिखर भी जिनके राजभवन मे अभी आप बिराज रही है—बहुत ही प्रभावशाली एव प्रतिष्ठित हैं फिर भी हम तो यही मानती हैं कि आपको पाकर वे निहाल हो गये हैं .'

'कौन राजा जयशिखर ? उन्होंने मुझे कहा से पा लिया है ?' हठात् मजुला चीखकर बोल उठी।

'सरोवर मे से निकाल कर जब राजा जयशिखर आपको अपने राजभवन मे लाये तब आप बेहोश थीं तब से ये राजवैद्यजी आपकी चिकित्सा करते रहे हैं और अभी ही आप सचेतन हुई हैं '

मजुला को वर्तमान परिस्थितियो का कुछ-कुछ आभास हुआ। वह यह समझ गई कि इस बार वह फिर एक नये सकट मे फस गई है जिससे छुटकारा पाना शायद आसान नहीं दिखाई देता है। इसलिये पूरे विवेक और धैर्य से ही कार्य करना चाहिये, लेकिन पहले वह सभी परिस्थितियो को भली-भाति समझ तो ले। उधर दासिया उसकी आकृति और उस पर खिची चिन्ता की गहरी होती रेखाओं को देखकर यह समझ गई कि यह महिला रूप से ही असामान्य नहीं है बल्कि अपनी वैचारिकता एव भावुकता की दृष्टि से भी असामान्य लगती है। उन्हे यह भी प्रतीत हुआ कि यह असामान्य महिला यहा पहुचकर प्रसन्न नहीं है बल्कि चिन्ताग्रस्त हो गई है, अत हमारे लिये इसको राजा के मन के अनुकूल बनाना अथवा इसको फुसलाना बहलाना एक कठिन कार्य है। फिर भी उन्हे पूरे प्रयास तो करने ही थे। अत वही दासी खुशामद करती हुई मंजुला को तरह-तरह के प्रलोभन दिखाने लगी। दासियां खुद प्रलोभन मे पड़ी हुई थी कि यदि वे इस सुन्दरी को राजा के मोहपाश मे बाध सकीं तो उन्हे विविध प्रकार के बहूमूल्य पुरस्कार मिलने वाले थे। इस कारण दासी ने फिर मजुला से अनुनय की—

'हमारे राजा बहुत ऐश्वर्यशाली है, देवीजी, आपके अभावो को पल भर मे दूर कर देगे। यही नही, आपके चारो ओर स्वर्ग जैसे सुखो की वे सृष्टि कर देगे और स्वय भी आपकी चरण सेवा मे लग जायेगे। बस आप अपने मगल मुख से 'हा' फरमा दीजिये।'

अपने लाल के स्नेह-स्मरण और जयशिखर की वासना की आने वाली आधी के बीच मजुला फिर से मूर्च्छित हो गई और फिर से उसकी चिकित्सा शुरू हो गई।

'देवी, तुम तो नारियो का भूषण हो। तुम्हारे जैसी सुकोमल एव सुन्दर स्त्री जगल मे रहकर अपने जीवन को यो ही नष्ट कर दे— यह शोभा नही देता है। अब तो तुम्हारी मूर्च्छा दूर हो गई है तथा शरीर मे शक्ति भी आ गई होगी सो अपनी दृष्टि पसारो और घूमो तो तुम्हे जरूर लगेगा कि तुम्हारे चारो ओर वैभव बिखरा पड़ा है। तुम्हे तो अपना सौभाग्य मानना चाहिये कि तुम अरण्य से निकल कर इस राजभवन मे ले आई गई हो।

और मै कहना चाहता हू कि यह चारो ओर बिखरा वैभव समझो कि तुम्हारा ही है। अपने दरिद्री भूतकाल को भूल जाओ और इस अपार वैभव का उपभोग करो ' कहकर राजा जयशिखर इस तरह मजुला के चेहरे की ओर देखने लगा कि उसके कथन की क्या प्रतिक्रिया प्रकट होती है।

ज्योही मजुला दूसरी बार की मूर्च्छा से सचेतन हुई तो राजा के निर्देश के अनुसार दासिया दौड़ी-दौड़ी गई और राजा को मजुला के पास बुला लाई। कारण, राजा ने मजुला को उसके अनुकूल बनाने के काम को दासियो के सामर्थ्य से बाहर माना और दूसरे, राजा का मन हर समय मजुला को अपने ही दृष्टिपथ मे बनाये रखने को तड़पता था।

राजा ने आते ही मजुला को उसकी तबियत के बारे मे पूछा तो उसने शिष्टाचारवश उत्तर दे दिया जिससे उत्साहित होकर उसने मजुला को राज्य वैभव का लोभ बताया कि वह उसकी बात मान ले।

मजुला विचार मे पड़ गई कि वासना मे जो अधा बना हुआ है वैसे इस शक्तिसम्पन्न राजा से अपना पिड कैसे छुड़ा पायेगी ? उसने क्रूरकर्मी को तो धर्मी बना लिया था, क्योकि अबोध को समझाना तो सरल होता है लेकिन समझे हुए को समझाना बड़ा ही कठिन। वह गहराई से सोचने लगी कि वर्तमान अवस्था मे उसे किस रीति से व्यवहार करना चाहिये ?

जयशिखर ने जब देखा कि अपार वैभव को भोगने का लोभ दिखाने के बावजूद भी मजुला ने न तो कोई उत्तर दिया है और न ही अपनी आकृति पर कोई अनुकूल रुख दिखाया है तो उसने कुछ प्रतिकूल भय दिखाने का निश्चय किया।

किन्तु फिर उसने अपना इरादा बदला और साम नीति से ही काम लेने का प्रयास जारी रखा। राजा ने फिर कहना शुरू किया —

'हे सौभाग्यशालिनी, सच मानो तो मैंने ही तुम्हे नया जन्म दिया है। जब पागल हाथी ने तुम्हे ऊपर उछालकर सरोवर मे गिरा दिया था तब तुम मूर्च्छित हो गई थी। यदि मै आकर तुम्हे बाहर न निकलवाता और तुम्हारी समुचित चिकित्सा नहीं करवाता तो तुम अपने जीवन से हाथ धो चुकी होती। अगर मैंने तुम्हे नया जीवन दिया है तो तुम भी मेरी आशा पूरी करो, देवी! .

ओ चन्द्रमुखी, तुम मेरे जीवन मे शीतलता उडेल दो। यह सारा राजभवन तुम्हारे बिना सूना लग रहा है—इसे तुम रोशन कर दो .मै तुम्हारी 'हा' सुनने के लिए बेचैन हो रहा हूँ '

एक बार तो राजा के ये वासनामय वचन सुनकर मजुला का दिल रोष से भर उठा, किन्तु तत्काल ही उसे खयाल आया कि इन परिस्थितियो मे रोष दिखाना सकट बन जायगा, अत अपनी सुरक्षा के लिए विवेकपूर्ण व्यवहार ही किया जाना चाहिए। फिर भी मजुला राजा की बात का कोई जवाब नहीं दे सकी। राजा ने मौन को कमोबेश स्वीकृति मानकर बहुमूल्य वस्त्रो, अलकारो, रत्नो तथा सुख सुविधापूर्ण सामग्री के मजुला की शय्या के चारो ओर ढेर लगवा दिये किन्तु मजुला ने उन ढेरो की तरफ एक नजर डालकर भी नही देखा। तब राजा ने समझा कि मेरा प्रस्ताव शायद इसकी दृष्टि मे अभी तक इसके स्तर के अनुरूप नहीं है, अत राजा ने अपना सबसे ऊचा प्रलोभन पेश कर दिया—

'हे कोमलागी, तुम मेरे दिल मे इस गहराई तक समा गई हो कि मै तुम्हे सामान्य रानी नहीं, अपनी पटरानी बनाऊगा। इसका मतलब होगा कि तुम मेरे दिल पर राज करोगी . . अब तो बोलो कि क्या कहती हो ? भली प्रकार से सोच-विचार कर लो। अपना शुभ निर्णय मुझे बताओ . .।'

मन ही मन तो मजुला इस प्रणय-निवेदन पर छि छि कर उठी —अमित शक्तियो का स्वामी होकर भी मनुष्य वासना का ऐसा गुलाम हो जाता है जिसके लिए मेरे हृदय मे कभी कोई जगह नहीं हो सकती। मै भी कैसी हतभागिनी हू कि जिस बालक को सवा नौ माह मैंने अपने गर्भ मे रखा, उसे स्तनपान तक न करा सकी और इधर इस कामी कीड़े ने मेरे लिए अजीब-सी आपदा खड़ी कर दी है। फिर वह सोचने लगी कि सीता को भी इसी तरह रावण ने परेशान किया था किन्तु उनको तो राम जैसे पति और हनुमान जैसे सेवक का बल था किन्तु मेरे पति को जानकारी भी नहीं है कि मै कहाँ हूँ और मेरे साथ क्या बीत रही है ? उन्हे क्या पता कि उनकी मा और बहिन ने मुझे घर से निकाल दिया है। वे तो सोच रहे होगे कि विद्याधर के वचनो के अनुसार उनका भाग्यशाली सुपुत्र श्रीपुर की हवेली मे ठाठबाट से बड़ा हो

रहा होगा। काश, मेरे पतिदेव इधर आ जाते और इस संकट से मुझे उबार लेते। ..लेकिन उसने अपने आपको सचेत बनाया कि वह हतोत्साहित क्यो हो रही है ? क्या जन्म से उसे मिले सुसस्कार आज वह भूल रही है ? क्या वीतराग वाणी और सन्तो के सत्सग को भी भूल रही है जो इस तरह घबराकर वह कुछ का कुछ सोचने लगी है ? उसने अपने आत्मबल का आह्वान किया और सारे संकट का सूझबूझ के साथ सामना करने का निर्णय किया ताकि साप भी मरे और लाठी भी नही टूटे।

राजा जयशिखर उसके उत्तर के इन्तजार मे खड़ा था। वह उसे समझा भी नहीं सकती क्योंकि वह कामान्ध बना हुआ था। वह उसे फटकार भी नहीं सकती क्योंकि उसके पास बाहरी ताकतो की कमी नही थी जिनके कारण वह उसके शील को भी खतरे मे डाल सकता था। अभी तो वह याचना कर रहा था लेकिन क्रोधित होकर वह कुछ भी अनर्थ कर सकता था। इसलिए इसका इलाज कड़वी दवा की बजाय मीठी दवा से करना ही ज्यादा उपयुक्त रहेगा। मन मे उसने सारी योजना सोची, लेकिन प्रकट रूप मे वह राजा को कहने लगी—

'राजन्, आप जो कुछ कह रहे है, उसको मै ध्यान से सुन रही हू और उस पर सोच रही हूँ। मेरे पास मन का योग भी है, वचन की शक्ति और शरीर मे प्राण भी मौजूद है, लेकिन पहिले सामने वाले की पूरी बात को सुन लेना मै उचित समझती हूॅ ताकि उसका इच्छा से योग्य उत्तर दिया जा सके।'

मंजुला के इस उत्तर को सुनते ही राजा ने सोचा कि यह महिला रूपवती ही नहीं, बुद्धिमती भी खूब है, इसलिए इसकी बात को ध्यान से ही सुननी चाहिए। उसने उत्साहित होते हुए कहा —'हा, हा बोलो, मैं तुम्हारी सारी बात सुनूंगा।' मजुला बोली —'क्या बात करू, राजन्, आप जानते ही हैं कि इस ससार मे नारी विशिष्ट स्थान रखती है। यदि नारी न हो तो पुरुष की कैसी दशा बन जाय ? बच्चे का पालन-पोषण न हो तो क्या वह जिन्दा रह सकता है ? यह माता के वात्सल्य का असर होता है तो पुरुष, पुरुष बन जाता है। मैं भी कारणवश जगल मे रहकर अपने पुत्र का लालन-पालन करना चाह रही थी—मेरा भी मातृत्व सफल हुआ था किन्तु एक पागल हाथी ने मुझे उछाल कर सरोवर मे गिरा दिया। मैं आपकी आभारी हूँ कि आपने दया लाकर मुझे बाहर निकलवाया और मेरी चिकित्सा करवाई। आप सरीखे योग्य पुरुष ही नारी जाति को पहिचान सकते है। आपकी दयालुता के कारण ही मै राजभवन मे आनन्द से रह रही हू। शरीर और मन से मुझे पूरी तरह स्वस्थ हो जाने दीजिये ताकि मैं भलीभांति सोच-विचार कर स्थायी निर्णय ले सकू।'

राजा जयशिखर ने जब मजुला का यह कथन सुना तो उसका मनमयूर नाच उठा। अब तक उसका मन जो शका-कुशंकाओं से घिरा हुआ था, कुछ स्पष्ट-सा

होने लगा कि इस रूपवती ने मेरा एहसान भी माना है, आनन्द से रहना भी माना है तो सोच-विचार कर स्थायी निर्णय लेने का आश्वासन भी दिया है जिससे पूरी आशा बधती है कि वह मेरे अनुकूल बनने का यत्न कर रही है। उसने यह भी सोचा कि ऐसे नाजुक मामले मे जल्दबाजी कतई नहीं करनी चाहिए —मन मनाकर ही सारी बात को जमानी चाहिए क्योंकि जल्दबाजी करने से सारी स्थिति ही बदल सकती है और बनती बात बिगड़ सकती है। इस कारण उसने मंजुला को पूरा सन्तोष बधाते हुए हर्षपूर्वक कहा—

'देवी, मुझे विश्वास है कि जल्दी ही तुम पूर्णतया स्वस्थ हो जाओगी और तब तक सोच विचार कर स्थायी निर्णय भी ले लोगी, क्योकि मुझे तुम पर पूरा-पूरा विश्वास है।'

यह कहकर राजा मजुला के कक्ष से बाहर चला गया। मजुला सोच रही थी कि सोना ही आग मे डाला जाता है।

उधर विद्याधर ने श्रीकान्त को अपने विमान हसयान द्वारा भेजते हुए यह बताया था कि उसके होने वाला सुपुत्र अतीव ही भाग्यशाली होगा। उसी भाग्यशाली सुपुत्र को जन्म देते मजुला सफाई करने के लिए जो सरोवर पर गई थी, वह वापिस लौटी ही नही। उस बीहड़ वन मे एक वृक्ष की टहनी से बधी झोली मे वह नवजात शिशु सोया हुआ था। वह भूखा था, क्योंकि उसकी मा उसे स्तनपान तक नहीं करा सकती थी। वह अपनी खुली आखो से ऊपर देख रहा था —शायद सोच रहा हो कि जिस नये संसार मे वह आया है, क्या उसका रूप-स्वरूप यही है?

मंजुला के सरोवर पर चले जाने के कुछ समय बाद उधर से एक बनजारा अपनी बालद लेकर गुजरा। उस बियावान जगल मे उस लटकती हुई झोली को देखकर वह आशकित हुआ कि उसमे क्या हो सकता है? ज्यो ही वह झोली के समीप पहुँचा उसे नवजात शिशु का रोना सुनाई दिया। तब तो वह आश्चर्य चकित रह गया कि इस स्थान पर केवल यह नवजात शिशु अकेला कैसे है? इसको जन्म देने वाली मा तक कहा चली गई है? जब उसने झोली मे झाक कर देखा तो उसके मन मे हर्ष की लहर दौड़ गई कि कितना मनमोहक है यह बालक?

बनजारे ने अपने अनुचरो को आसपास मे कोई हो तो उसकी खोज करने का निर्देश दिया और स्वय उस बालक को अपने हाथो मे लेकर खुशी-खुशी रमाने लगा। एक अनुचर से उसने दूध भी मगवाया और रूई के फोहे से बूद-बूद दूध बालक को पिलाने लगा। उस बालक को अपने हाथो मे लेकर रमाने और दूध पिलाने मे उसे अपार सुख की अनुभूति होने लगी। इसका एक विशेष कारण भी था। प्रौढ़ावस्था तक पहुँच जाने के बाद भी उस बनजारे को कोई सन्तान नहीं हुई थी जिस कारण से वह और उसकी धर्मपत्नी दोनो बड़े दु खी रहा करते थे। उनकी सदा

यही कामना बनी रहती थी कि कम से कम एक सन्तान तो उन्हे प्राप्त हो ही जाय किन्तु सभी प्रकार के उपाय कर लेने के बाद भी उनकी कामना फलीभूत नहीं हुई थी। अब तो सतान-प्राप्ति की तरफ से वे करीब-करीब निराश हो चुके थे।

बालक की सुन्दरता, कोमलता और प्राभाविकता इतनी अद्भुत थी कि उसे सर्वागत निहार कर वह बनजारा ठगा-सा रह गया। उसने बालक की मा अथवा अन्य परिजन की खोज करने के लिए अपने अनुचरो को भेज तो अवश्य दिया था किन्तु मन-ही-मन वह कल्पना करने लगा कि कोई भी नही मिले तो बहुत अच्छा हो ताकि वह मनमोहक बालक उसे यो ही प्राप्त हो जाय। उसकी कल्पना आगे दौड़ने लगी कि जब वह विलक्षण बालक को घर ले जाकर अपनी धर्मपत्नी के हाथो मे देगा तब अतीव आनन्द से वह कितनी भावविभोर हो जायेगी। फिर वह इसका बहुत नेह पूर्वक लालन-पालन करेगी और इसकी बाल-लीलाओं से सारे घर को आनन्दित बना देगी। दत्तक पुत्र के रूप मे यह बालक उनके कुल का दीपक बन जायेगा।

'स्वामी, हमने चारो ओर सारे जगल को छान मारा लेकिन हमे तो कोई मानव या मानवी कही पर भी नही दिखाई दी। ऐसा लगता है कि किसी महिला ने रास्ता भटक कर यहा बालक को जन्म तो दे दिया किन्तु किसी कार्यवश बालक को झोली मे लटका कर वह इधर उधर गई होगी और कोई जगली जानवर उसे खा गया होगा।' थके हुए अनुचरो ने अपने स्वामी को ब्यौरा देते हुए सुझाव दिया कि वे इस बालक को अपने साथ ले चले।

'तुम ठीक कह रहे हो भाई, मै खुद इसे घर ले चलने के लिए बहुत उत्सुक हूँ किन्तु हमे इसकी माता के आने का अभी भी कुछ और इतजार करना चाहिए क्योंकि किसी नवजात शिशु को उसकी माता से विलग कर देना अच्छा नहीं है। इसलिए दो दिन तक अपना पड़ाव यहीं रहने दो, खाना बनाओ, खाओ और विश्राम करो।'

स्वामी का यह आदेश सुनकर सभी अनुचर बड़े प्रसन्न हुए क्योंकि हकीकत मे वे बहुत थके हुए थे और उन्हे विश्राम की सख्त जरूरत थी। बनजारे ने अपने एक प्रिय अनुचर को अपने पास रोक लिया कि वह उसके पास ही ठहरे और जो कुछ निर्देश दे, तत्काल उन्हे पूरा करे।

बनजारा तो खाना, पीना, आराम करना सब कुछ भूल गया। उसका मन ही नही होता था कि वह उस बालक को अपने हाथो से नीचे उतारे। वह खुद ही बालक को दूध पिलाता, रमाता और हसाता था। बालक जब किलकारिया मारता तो बनजारे को जैसे खजाना ही मिल जाता, वह भी जोर-जोर से कूदने और मोद मनाने लगता।

पड़ाव डाले हुए दो दिन भी पूरे होने आये लेकिन वहा कोई भी नहीं आया। इससे यह निश्चित हो गया कि उस बालक की मा जीवित नही बची है और

अब बनजारा बिना किसी हिचक के उस बालक को अपने घर पर ले जा सकता था। इस खुशी मे पड़ाव उठाने से पहले बनजारे ने अपने सभी साथियो और अनुचरो को इकट्ठा किया और उनको सम्बोधित करते हुए बोला —

'भाइयो! आप देख रहे है कि बालक का कोई भी पालक नहीं दिखाई दे रहा है अत यदि आप सब लोग सहमति दे तो मै इसे अपने साथ ले लू और अपना दत्तक पुत्र बना लू।'

सभी लोगो ने आपस मे विचार-विमर्श किया और उनमे से एक ने बनजारे की बात का जबाब दिया —

'मुखियाजी, हम बनजारे तो फर्ज को भी अच्छी तरह समझते है। यह ठीक है कि आपको सतान नही होने से बालक की जरूरत है किन्तु ऐसा नहीं होता तब भी क्या हमारा फर्ज नहीं होता कि इस बियावान जगल मे अकेले रहे हुए इस बालक को हम साथ मे ले जाते और इसका उचित रीति से लालन-पालन करते। हमे तो बहुत खुशी है कि हमे हमारे मुखियाजी का उत्तराधिकारी मिल गया है।'

'तो भाइयो! अपन यहा से प्रस्थान करे उसके पहिले एक सहभोज का आयोजन करे और इस मनमोहक बालक का जन्मोत्सव मनावे।'

(क्रमश·)



तर्कोऽप्रतिष्ठ श्रुतयोविभिन्न नै को मुनिर्यस्य वच प्रमाण।

धर्मस्य तत्त्व विहित गुहाया महाजनो येन गत स पन्था· ।।

तर्क अस्थिर है, शास्त्र भिन्न-भिन्न है, कोई ऐसा मुनि नही जिसके वचन प्रमाणभूत हो, धर्म का तत्त्व अधेरे मे है अत उसी मार्ग पर चलना चाहिये जिस पर बहुत लोग चलते हो अथवा बड़े लोग चलते हो।

तलाश

हरदर्शन सहगल

इन दिनो प्रात मे डॉक्टर परमेश्वर परमार की चर्चा जोरो पर थी। ऐसा नहीं था कि इससे पूर्व लोगबाग डॉक्टर परमार को जानते न हो। उन का नाम था। वे एक निपुण डॉक्टर के रूप मे प्रसिद्ध थे। वे प्रकृति से गम्भीर थे। मरीज़ो से बहुत कम बोलते थे। दवाई दी और चलता किया। बस।

लेकिन अब तो बात ही कुछ और हो गई थी। पुरस्कार मिलने की घोषणा क्या हुई, जैसे सब कुछ बदल गया। इस वर्ष का यह पुरस्कार (माइड एड सोल) एक अतरराष्ट्रीय औषध-विज्ञान सस्था ने उन के आतो की बीमारियो पर शोध-कार्य के लिए देने का निर्णय लिया था।

यही कारण था—एकाएक उनका नाम बहुत बड़ा हो गया था। प्रातीय, राष्ट्रीय ही नहीं, अतरराष्ट्रीय पत्र-पत्रिकाएँ भी उनकी चर्चा चित्र सहित कर रही थीं।

जब आदमी का नाम चढ़ता है, सम्मान और पुरस्कार मिलते हैं तो उसे और लाभ भी अनायास मिलने लगते हैं।

□

राजस्थान के एक बहुत बड़े धनाढ्य थे, शिवशकर सिह। पूरे कर्मयोगी। हर क्षेत्र मे आगे रहने वाले। कलकत्ता मे उनके कई कारोबार थे। संपत्ति इतनी, जिसका कोई लेखा-जोखा नही। इतना धन होते हुए भी निर्लिप्त-धन के धनी थे शिव शंकर सिह। अर्जित लाभ का बहुत-सा हिस्सा असहायो के लिए लगा दिया करते थे। विद्वान थे। जीवन के हर पक्ष पर पूरी तरह चितन-मनन करके ही कोई कदम उठाया करते थे। व्यापारी वर्ग हो या प्रशासनिक, या फिर साधारण समाज, सभी जगह, उनका समान रूप से आदर होता था।

अब शिवशकर सिह की आयु ७० वर्ष के करीब हो चली थी। उन्होंने अपना कारोबार धीरे-धीरे समेटना आरम्भ कर दिया था। बहुत कुछ बेटो और दामादो मे बाट दिया था, फिर भी उन सबकी नज़र बाउजी की अपार सपत्ति पर लगी रहती थी। सब कोई अधिक से अधिक पा लेने की तृष्णा पालता था। बाउजी सोचते, बिना मेहनत सब कुछ पा लेने से आदमी निष्क्रिय हो जाता है।

□

यही वे दिन थे, जब डॉ. परमेश्वर परमार की चर्चा जोरो पर थी, और इधर बाबू शिवशंकर, अपने ठेठ गाव पैथासर बसने के लिए आ गए थे। उनके साथ

थी उनकी विदुषी पत्नी लक्ष्मी तथा निजी सचिव रजननाथ। ये दोनो ही बाउजी के प्रिय एव परामर्शदाता थे। दोनो ही बाउजी की आज्ञा मानने मे अपने जीवन की सार्थकता अनुभव करते थे।

इन सबने एक दिन बैठ कर एक योजना बनाई। आस-पास दूर-दूर तक कोई अस्पताल नही था। ग्रामीणजन कष्ट पाते थे। बाउजी के अनुसार नैतिकता का तकाज़ा था उनके इतने बड़े धन भण्डार मे से उनके मूल गाव वालो को भी हिस्सा मिले अन्यथा सब का सब बेटे-बेटिया हड़प लेगे।

सभी एक मत से सहमत हुए कि शीघ्रातिशीघ्र वहा पर एक बड़ा अस्पताल बनना चाहिए और प्रमुख डॉक्टर हो परमेश्वर परमार। वेतन बीस हजार प्रति मास और दूसरी सब सुविधाए।

शहर से एक बड़े ठेकेदार को बुलाकर इमारत खड़ी करने का आदेश दिया गया। इधर निजी सचिव रजननाथ स्वय प्रस्ताव लेकर चल पड़े डॉ परमार के पास।

गर्मियो के दिन थे, मगर एक दिन पूर्व बरसात पड़ी थी। जब रजननाथ चले तो मौसम मे थोड़ी तरावट थी। बस रास्ते मे खराब हो गई। रजननाथ ने आगे का मार्ग पैदल चलने का निर्णय ले लिया, ताकि समय सीमा मे ही डॉक्टर साहब से सपर्क साध कर वापस चल सके और दूसरे कार्य सभाल सके। दूसरी बस तो दो रोज़ बाद आनी थी। कच्चा रास्ता बहुत छोटा पड़ता था। फिर भी गाव का कच्चा रास्ता। ऊपर से उमस उठनी शुरू हो गई। इससे उनकी हालत अधमरे की सी हो गई। शहर आते ही उन्होंने देखा, डॉक्टर के बगले पर मरीज़ो की अपार भीड़ जमा है। लोगबाग बगले मे ही पेड़ो के नीचे पड़ी बेचो पर बैठे है। सभी डॉक्टर साहब की प्रशसा कर रहे है —हर मरीज को कम से कम दो तीन मिनट देते हैं। बातो-बातो मे ही मरीज़ का आधा रोग दूर हो जाता है। पैसे नाम मात्र के। इसीलिए यहा मरीजो का ताता लगा रहता है। लोग उन्हे भगवान का दूसरा रूप कह रहे थे।

रजननाथ ने डॉक्टर का नाम पूछा तो पता चला—मधु स्वामी। यह सुन कर उन्हे निराशा हुई। वे तो समझे थे, मजिल मिल गई। पता चला, डॉ परमेश्वर परमार का ठिकाना अभी डेढ़ मील आगे था। उनके मुह से अनायास निश्वास निकली तो लोगो ने कहा आप इन्हीं डॉक्टर स्वामीजी को ही दिखा दीजिए। वह परमेश्वर डॉक्टर थोड़े ही है पूरा राक्षस है। ग़रीबो का खून निचोड़ लेता है। अब तो सीधे मुह बात ही नहीं करता। पुरस्कार मिलते ही अपनी फीस तिगुनी कर दी ..

रजननाथ मे एकदम आगे जाने की क्षमता चुक गई थी। उन्हें चक्कर आ गया और वहीं गिर पड़े। देखते ही देखते डॉक्टर मधु स्वामी चैम्बर से बाहर आया।

एक साफ-सुथरे कमरे मे सुलाया। उपचार किया। दूसरे रोज़ ही उन्हे अपने घर से जाने दिया।

□

बियाबानी, खामोशी और सूनेपन का प्रतीक था, डॉ. परमेश्वर परमार का बड़ा बगला। बाहर फाटक पर नाम की बड़ी तख्ती लगी हुई थी। वर्दी मे लैस चौकीदार ने उन्हे अन्दर ही नही घुसने दिया—'वक्त से आइए।' यह टाइम मरीज़ देखने का नही है। वैसे भी यहा बड़े लोग ही आते है।'

रजननाथ ने उसे बताया कि वह मरीज़ नहीं है। एक निजी कार्य से डॉक्टर साहब से मिलना ज़रूरी है। चौकीदार ने उन्हे चिट पर अपना नाम-काम लिख कर देने को कहा। चिट लेकर चौकीदार अदर चला गया। दस मिनट बाद वापस आया और उन्हे एक बैच पर बैठ कर प्रतीक्षा करने को कहा। पौन घटे बाद बुलावा आया। प्रस्ताव देख कर वे प्रसन्न तो हुए परन्तु चेहरे पर अतिरिक्त गभीरता ओढ़े रखी। कुछ देर बाद बोले —देखेगे। और भी बड़ी-बड़ी आफर्ज़ कई जगहो से आ रही है। बाद मे अपने निर्णय से अवगत करा दूगा। थोड़ी प्रतीक्षा करनी होगी।

□

रजन नाथ का क्लात-मुखमण्डल, लक्ष्मी तथा शिवशकर से छिपा न रहा। उन्होंने पूछा —क्या काम नहीं बना ?

रजन ने उत्तर दिया—काम तो समझिए बन ही चुका है। परन्तु डॉक्टर साहब थोड़ी अकड़ और नखरा दिखा रहे है।

—किसलिए ? लक्ष्मी ने पूछा।

—यह आदत की बात होती है, उत्तर *शिवशकर ने दिया, कुछ लोग,* जितने वह नही होते, अपने को उससे बढ़-चढ़ कर बताते हैं। हाव-भाव से सामने वाले की उपेक्षा करके ही जैसे उनका अह तुष्ट होता है। क्यो रजनजी ! मै कुछ गलत तो नहीं कह रहा ?

रजन ने उनके पाव पर हाथ रखते हुए कहा—बाउजी आप अनत है। फिर रजननाथ ने धीरे-धीरे उन्हे अपनी यात्रा का पूरा विवरण शुरू से अत तक का, बता दिया कि डॉ परमार ने पानी तक को न पूछा।

लक्ष्मी बोली—पुरस्कार मिल जाने से कोई बड़ा नही हो जाता। सुना है, आजकल तिकड़म से भी पुरस्कार हासिल कर लिये जाते है। हमे कुशल डॉक्टर तो चाहिए ही किन्तु उससे पूर्व एक कोमल हृदय, उदार मनुष्य चाहिए। उन्होंने पति की ओर देखा।

शिवशकर सिह ने कहा—बिलकुल ठीक कहती हो —मदाध, अहकारी आदमी, जो आदमी को आदमी नही समझता, हमारे भोले-भाले ग्रामीण रोगियो का क्या भला करेगा। थोड़ा रुक कर बोले, रजन जी आपको एक बार फिर कष्ट करना होगा। अब की वहीं का वहीं प्रस्ताव ले कर, मेरी ओर से डॉ मधु स्वामी से प्रार्थना करो।

लक्ष्मी ने पूछा—क्या वे मान जाएगे ?

शिवशंकर ने उत्तर दिया—निश्चित रूप से। हा वे अपने कुछ पुराने मरीज़ो के विषय मे चिंतित हो सकते है। इसकी व्यवस्था भी हम पक्की सड़क बनवा कर तथा मोटर गाड़ी चलवाकर, कर देगे।

—और डॉ परमार ? धीमे ससंकोच शब्द थे, रजननाथ के।

—उनको तो मना करना ही है। शिवशकर सिह ने निश्चयात्मक स्वर मे उत्तर दिया। □

—५-ई-१ 'सवाद'
डुप्लैक्स कॉलोनी, बीकानेर-३३४००३

सर्वभूत हितेरताः

श्रीमती कुमुद

गीता मे कहा गया है 'सर्वभूत हितेरता' (५।१५ १२।४) अर्थात् प्राणि-मात्र के हित मे रति हो। यदि गभीरता से विचार करे तो यह कथन सम्पूर्ण ज्ञान, धर्म, दर्शन और जीवन का आधार सिद्ध होगा। सच्ची मनुष्यता भी यही है। अपने दु ख मे ही दु खी और अपने सुख मे ही सुखी होना पशुता का लक्षण है—'यही पशु प्रवृत्ति है कि आप-आप ही चरे, मनुष्य है वही कि जो मनुष्य के लिए मरे'। इस प्रकार जब तक मनुष्य दूसरे के दु'ख मे दु खी और दूसरे के सुख मे सुखी होने का स्वभाव नही बना लेता तब तक वह मनुष्य कहलाये जाने का अधिकारी भी नही बनता।

बात तनिक उलझी दीखती है परन्तु वह है अत्यत सरल। यदि विचार किया जाये कि जीवन की स्थिति क्यो है, वह कब तक स्थित है और कब समाप्त हो जायेगा तो यह बात तुरन्त समझ मे आ जाती है कि इस ससार मे सभी कुछ परनिर्भर है, किसी का स्वतत्र अस्तित्व नहीं है। प्रकृति स्वय अपने नियमो मे बधी है। भीषण आतप के उपरान्त ही शीतल जलवृष्टि का सयोग बनता है और यह जल ही उस कृषि का आधार है जो जीवन का अस्तित्व बनाये रखती है। समुद्र अपनी सीमा का उल्लधन नही करता। सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्रादि सब किसी अदृश्य शक्ति से संचालित अनोखे तालमेल मे गतिमान रहते है। यदि कभी भी किसी भी स्थिति मे यह तालमेल गड़बड़ाता है तो उसका परिणाम भीषण विनाश के रूप मे प्रकट होता है। असम्यावस्था से सुसस्कृतावस्था तक का मनुष्य का विकास पारस्परिक प्रेम, सद्भाव और सहयोग के परिणामस्वरूप ही संभव हुआ है। ससार मे शान्ति और व्यवस्था तब तक ही सभव है जब तक यह पारस्परिक प्रेम और सद्भाव जीवित है। प्रकृति-सतुलन के नियमो के समान ही मानव-प्रवृत्तियो के सतुलन की अनिवार्यता स्वयसिद्ध है। इसी सत्य को अस्तित्व का मूलमत्र स्वीकार कर प्राचीन मनीषियो ने जीवन के लिए आवश्यक जिन सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया था उन्हे ही धर्म की सज्ञा से अभिहित किया जाता है। जिस प्रकार अग्नि का धर्म ताप है और जल का तारल्य, उसी प्रकार जीवन का धर्म है परस्पर निर्भरता। इसे चाहे तो हम सह-अस्तित्व का सिद्धान्त मान ले, चाहे आत्मा की एकता का दर्शन। गीता कहती है कि सबके हित मे ही प्रत्येक का हित समाया हुआ है इसलिये सभी के हित की

कामना की जानी चाहिये—

सर्वे भवन्तु सुखिन सर्वे सन्तु निरामय ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दु ख भाग्भवेत ।।

सब सुखी हो जाये, सबके आनन्द मगल हो, कभी किसी को किंचिन्मात्र भी कष्ट न हो, यह जिसका भाव बन जाता है वह मनुष्य कहलाने का अधिकारी भी बन जाता है। इसी चिन्तन से यह धार्मिक विचार जन्म लेता है कि जो अपनी शक्ति के अनुसार दूसरो का भला करता है उसका भला भी भगवान उसी अनुपात मे करते हैं। यदि वह अपनी पूरी शक्ति लगा देता है तो भगवान भी अपनी पूरी शक्ति लगा देते हैं। और जब भगवान अपनी पूरी शक्ति से किसी को सुखी करना चाहेगे तो वह दु खी कैसे रहेगा ? उसे कौन दु ख दे पायेगा ? और जिसे कोई दु ख न हो, जिसे कोई दु ख न पहुॅचा सके वह भगवान को प्राप्त हो गया जैसा ही है। तभी तो कहा है—'ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूत हितेरता ' अर्थात् जो सभी के हित मे रत हो वह भगवान को प्राप्त हो जाता है।

सभी धर्मों एव सम्पूर्ण ज्ञान का लक्ष्य यदि ईश्वर की प्राप्ति है तो 'सर्वहित' की दृष्टि कितनी महत्त्वपूर्ण है यह बताने की आवश्यकता नहीं। पाप-पुण्य की विवेचना को भी इसी सदर्भ मे समझा जा सकता है। जिसका दूसरो को सुख पहुँचाने का भाव हो वह दूसरो को दु खी देखकर सुखी हो ही नहीं सकता। इसीलिये जो अपने सुख के लिये दूसरो को दु ख पहुँचाते हैं वे तो मनुष्य कहलाने के अधिकारी भी नहीं हैं। वे तो पशु हैं। पशु से भी गये-गुजरे बिना सीग और पूछ के पशु! परन्तु पशु दूसरो को दु ख देने पर भी पाप का भागी नहीं बनता क्योंकि पाप-पुण्य की विवेचना वह नहीं कर सकता। इसी बात को किंचित आगे बढ़ाये तो अध्यात्म और दर्शन के उस परम बिन्दु तक पहुँच सकते हैं जिसे धर्म-ग्रन्थो ने मानवजीवन के मार्ग-दर्शन हेतु प्रस्तुत किया है। पाप-पुण्य की विवेचना का यही सदर्भ है जिसमे स्पष्ट किया गया है —

अष्टदश पुराणेषु, व्यासस्य वचन द्वय ।।
परोपकाराय पुण्याय पापाय परपीड़नम् ।।

अठारहो पुराण और व्यास के सम्पूर्ण वचनो का सार ये दो कथन ही हैं कि परोपकार ही पुण्य है और परपीड़न ही पाप है। तुलसी ने इसे ही धर्म का सदर्भ देकर पुष्ट किया है —

परहित सरिस धरम नहि भाई ।
पर-पीड़ा सम नहि अधमाई ।।

परपीड़न से पाप की स्थिति क्यो बनती है ? उत्तर पाने के लिए दूर जाने की आवश्यकता नही। 'पर' को पीड़ा देने से वह स्थिति बनती है जो जीवन की स्थिति और रक्षा के लिए आवश्यक है। यह स्थिति है प्रकृति के सहज सतुलन का डगमगा जाना। 'सम' पर ठहरे हुए सभी नैसर्गिक नियम तनिक भी छेड़-छाड़ से विषम हो सकते हैं। 'सम' भाव ही उस समता भाव को जन्म देता है जो प्राणिमात्र के बीच के संबध की अनिवार्य स्थिति है। यही धर्म, दर्शन और जीवन का सतुलन है—समतुलन है। योग, भक्ति और कर्म के दर्शन इसी चिन्तन से उद्भूत हैं। गीता मे भगवान कृष्ण ने जीवन्मुक्त स्वरूप का वर्णन इस प्रकार किया है —

आत्मौपम्येन सर्वत्र सम पश्यति योऽर्जुन ।
सुख वा यदि वा दु ख स योगी परमोमत ।।

गीता (६/३२)

अर्थात् जो योगी अपनी सादृश्यता से सम्पूर्ण भूतो मे 'सम' देखता है और सुख-दु ख को भी सबमे सम देखता है वह योगी परमश्रेष्ठ माना गया है। इस प्रकार जीवन्मुक्त वही है जिसमे सर्वथा, सर्वत्र, समभाव है। जिसमे समता है वही स्थितप्रज्ञ, ज्ञानी, गुणातीत, भक्त और जीवन्मुक्त है। अपने उच्चतम रूप मे यह समता-भाव जो दृष्टि देता है उसमे अपने पराये, ब्राह्मण-चाण्डाल, हाथी-गाय आदि का अन्तर भी मिट जाता है—

विद्याविनय सम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिता समदर्शिन ।। (५/१८)

समभाव की इस मानसिकता में ही जब कर्त्तव्य सम्पन्न किया जाता है तब ही वह कर्म बनता है—मन, वाणी, शरीर से होने वाली विधि-सगत उत्तम क्रिया जिसमे कामना का लेशमात्र भी नहीं होता। इस कर्म का विकर्म और अकर्म से अतर भी गीता मे भली प्रकार स्पष्ट किया गया है। कर्म मे जब इस प्रकार की प्रतीति होती है तभी वह सर्व हितकारी बन पाता है। यहीं कर्म का भक्ति से सबध भी जुड़ता है। जब कर्म निष्काम होता है तब वह किसके प्रति समर्पित होता है ? निश्चय ही भगवान के प्रति। इसीलिये भगवान ने अर्जुन से कहा था —

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्ध च ।
मय्यार्पित मनोबुद्धिमर्मि वैष्यस्य सशयम् ।। (८/७)

अर्थात् युद्ध करो परन्तु सब समय मेरा स्मरण करते हुए और मेरे मे अर्पित मन, बुद्धि से युक्त होकर। यही निष्काम कर्मसयुक्त भक्ति योग है।

ज्ञान, योग, कर्म और भक्ति, धर्म के ही मार्ग हैं क्योंकि इनसे उन गुणो को धारण करने की शक्ति मिलती है जो सबका हित करने के मार्ग का निर्देशन करते हैं।

कहा भी गया है —'धारणाद्धर्ममित्याहु धर्मो धारयते प्रजा' —(महाभारत)। धर्म से अर्थात् यम और नियम आदि सदाचारो से ही सबका धारण होता है। यम अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, नियम अर्थात् शौच, सतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरभक्ति। कौनसा ऐसा आस्तिक अथवा नास्तिक दर्शन है जो इन गुणो की महिमा को नकारता हो? यह निश्चय है कि इनसे जीवन मे अभ्युदय होता है, सर्वतोमुखी उन्नति होती है। इसीलिये वै. सूत्र इस स्थिति को धर्म का लक्षण बताता है —

यतोऽभ्युदयनि श्रेय सिद्धि स धर्म ।

याज्ञवल्क्य ने भी कहा है—

श्रुति स्मृति सदाचारा स्वस्थ च प्रिय आत्मन ।
सम्यक् सकल्पज कामो धर्ममूलमिद स्मृतम ।।

श्रुति, स्मृतियाँ, साधुजनो के आचार एव अपनी मन प्रीति तथा पूर्ण शुभ सकल्प किस प्रवृत्ति की ओर सकेत करते है? कहने की आवश्यकता नही कि यह प्रवृत्ति ही प्राणिमात्र के हित मे रति उत्पन्न करती है। यह रति भाव ही जब मनुष्य से मनुष्य को जोड़ता है तब सबके कल्याण की कामना साकार होती है।

यम-नियम आदि सदाचारो की अवधारणा सर्वभूतो के हित की आकाक्षा से ही उद्भूत है। जब मन की पवित्रता होगी तब सभी कुछ स्पष्ट सदर्भो मे दीखेगा—अर्थात् भाग-विभाग के आधार, प्राप्ति और कामना के बीच सतुलन और उचित और अनुचित के बीच विवेक के निर्धारण की क्षमता प्राप्त होगी। यह क्षमता संतोष उत्पन्न करेगी। सतोष उस अनुचित वासना का दमन करेगा जो आक्रोश, उत्तेजना, क्रोध और परिणामस्वरूप हिसा को जन्म देती है। हिसाभाव के शमन से पहले यम अर्थात् अहिसा भाव की सिद्धि होगी। मन, वाणी और चिन्तन मे स्थित यह भाव सत्य-शोधन की वह दृष्टि प्रदान करेगा जिससे मनुष्य समझ सकेगा कि उसका कितने पर अधिकार है, कितना उसकी नियति है और कहा विराम होना चाहिये। विराम की यह स्वीकृति मानसिक अथवा मनोवैज्ञानिक हिसाभाव के विरुद्ध सुरक्षा प्रदान करेगी, मन को शुद्ध करेगी तथा चारित्रिक अथवा भौतिक स्तर पर ब्रह्मचर्य के व्रत की परिपालना की शक्ति प्रदान करेगी। सत्य कभी शिव और सुन्दर से विलग नहीं रह सकता। शिव अर्थात् कल्याणकारी विचार यही है कि जो मेरा है वही सबका भी है और जो सबका है वही मेरा है। अपने-पराये का भेद जब समाप्त हो जायेगा तब परिग्रह की आवश्यकता ही नहीं रह जायेगी।

जो सबका है वह सबको प्राप्त हो तो मेरा भी मुझ को मिल जायेगा, चाहे तो इस दृष्टि को त्याग की दृष्टि कह ले और चाहे तो धर्म की, परन्तु सुख, शाति और

सतोष की प्राप्ति इसी मार्ग के अनुसरण से होती है। अपने मे सब और सब मे स्वय के समाये होने का ज्ञान ही सम्पूर्ण दर्शन है, अध्यात्म है। चाहे तो इसे जीव और ब्रह्म के रूपक से समझे, चाहे आत्मा-परमात्मा के रूपक से, परन्तु यह व्यक्ति-व्यक्ति के बीच अभेद को सिद्ध करने का दर्शन ही है। अभेद का यह बोध ही प्राणिमात्र के हित मे रति की अवधारणा का आधार है। सूक्ष्म मे विराट् का दर्शन अथवा विराट् मे सूक्ष्म की स्थिति का बोध ही मानव जीवन के सही सबधो का निदर्शन करता है, यह समझना कठिन नही है। कठिन है इस पर आस्था जमाना और इसके अनुसार आचरण करना। धर्म अनादिकाल से इसी आस्था को सुदृढ़ कर उसे जीवन का अग बनाने का प्रयास करता आ रहा है क्योंकि जगत् और जीवन की स्थिति, सुरक्षा और विस्तार का मत्र इसी मे निहित है।

—४६२ बासुकी खुर्द, दारागज, इलाहाबाद

'ईश्वर की प्राप्ति कहाँ से हो सकती है?' एक जिज्ञासु युवक ने पूछा। सत नामदेव ने कहा, 'सायकाल मेरे साथ चलना, मै तुम्हे ईश्वर के साक्षात् दर्शन करा लाऊगा।'

युवक शाम की उत्सुकता से प्रतीक्षा करने लगा। शाम हुई और चल पड़ा सत के साथ। सत नामदेव ने हरिजन बस्ती मे एक वृद्ध के घर उसे ले जा कर खड़ा कर दिया।

टूटी खाट पर एक बोरा बिछाये एक दसवर्षीय मातृहीन बालक लेटा हुआ था। वैद्यो ने बताया था कि उसे क्षय रोग हो गया है। सत नामदेव ने उसे प्यार से दवा पिलाई, सेवा सुश्रूषा की और थोड़ी देर बाद दूसरे दिन पुन आने का आश्वासन देकर युवक को लेकर चल पड़े। युवक ने पूछा, 'तात, आपने ईश्वर के दर्शन कराने का आश्वासन दिया था।'

सत बोले, 'वह बच्चा ही ईश्वर था।'

युवक को विश्वास हो गया कि पीड़ित मानवता की सेवा ही सच्ची आराधना है।

ममता निवारें : समता धारें

प्रो. चाँदमल कर्णावट

जीवन मे समता की प्राप्ति सभी को इष्ट है। सभी चाहते हैं कि उन्हे समता प्राप्त हो, उनके जीवन से मोह-ममता का निवारण हो। अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियो मे सभी समभाव मे रह सके। आकुलता और सताप-परिताप की आग से बचकर शातिमय जीवन जी सके। आसक्ति के बधन उन्हे नहीं बाँध सके और सभी सुखमय जीवन जी सके। समतामय जीवन की इसी भावना को अभिव्यक्ति दी गई है इन पक्तियो मे—

होकर सुख मे मग्न न फूले दु:ख मे कभी न घबराए,
पर्वत नदी श्मशान भयानक, अटवी से नही भय खावे।
रहे अडोल अकम्प निरतार, यह मन दृढ़तर बन जावे,
इष्ट वियोग, अनिष्ट योग मे, सहनशीलता दिखलावे।

समता मार्ग की सबसे बड़ी बाधा है—ममता, आसक्ति या मोह-भावना। ममता मे राग की प्रधानता रहती है। यह राग-भाव मनुष्य को मोह मे अन्धा बना देता है। रागान्ध व्यक्ति आत्मा के हिताहित को नही देखता, उसे शुभाशुभ या पुण्य-पाप का कोई विवेक नहीं रहता। फिर राग का प्रतिपक्षी द्वेष भी उसके साथ अभिन्न रूप से रहता ही है। इस प्रकार जिसके प्रति राग है, उसके विरोधी व्यक्ति या वस्तु के प्रतिद्वेष भी रहता ही है। राग-द्वेष मे क्रोध, मान, माया, लोभ आदि के अति अनिष्टकारी विकार निहित है। जिसके प्रति राग है, अनुचित-उचित रीति से, हिसा झूठ, चोरी आदि पापो का सेवन करके भी, उसे लाभ पहुँचाने का भाव ममतावान व्यक्ति को होता है। इस प्रकार ममता भावना ही जीवन की सबसे बड़ी विषमता है। ममता के रग मे रगकर व्यक्ति जीवन की समता या शाति को खो देते है। जीवन मे हिसा, झूठ, क्रोध, मान, माया आदि जितनी विषमताएँ है, वे ममता या मोह से उत्पन्न हैं। ममता मे निहित रागद्वेषादि की वृत्तियाँ और व्यवहार समता भावना के शत्रु है। ममता विषमता के जाल मे बाँधकर व्यक्ति को चैन और शाति की श्वास नहीं लेने देती। उसे समता प्राप्ति मे अग्रसर नही होने देती।

ममता पीड़ा और व्याकुलता है तो समता शाति और निराकुलता। ममता मे 'मै' और 'मेरा' की भावना है, जो 'तू' और 'तेरा' की विलगाव भावना को जन्म देती है, विषमता की विष वल्लरी का जाल फैलाती है।

ममता की कठोर शृखलाओं मे जकड़ा व्यक्ति अपने घर, परिवार के लिए तड़पता है और जीवन भर विषमताओं के जाल से मुक्त नहीं हो पाता। मोहग्रस्त

व्यक्ति भले ही बड़े से बड़े दुःखो मे भी अविचलित रहे तथापि घर परिवार के प्रति मोहभावना उसे बुरी तरह पछाड़ देती है। मेवाड़ मुकुट महाराणा प्रताप युद्धो की भयानक पीड़ाओं से नहीं घबराए, अभावो से पीड़ित नहीं हुए परतु अपने पुत्र की दीन दशा ने, उसके प्रति मोह ने, उन्हे परास्त कर दिया। परिणामस्वरूप वे अकबर से सन्धि करने को तैयार हो गए। यह है मोह की विभीषिका। इसीलिए जैन धर्म-दर्शन मे मोह, आसक्ति या ममता को कर्म सेना का सेनापति माना गया है जिसके अधीन रहते हुए व्यक्ति कभी पीड़ा से मुक्त नही हो सकता। इसीलिए शास्त्रकारो ने मोह या ममता को समस्त बन्धनो का कारण माना और समता को मुक्ति का मंत्र। शास्त्र मे कहा गया है—

णाणस्स सव्वस्स पगासणाए, अण्णान मोहस्स विवज्जणाए

रागस्स दोसस्स य सखएण, एगत सोक्ख समुवेइ मोक्ख ।

(उत्तरा ३२/२)

समता के स्वरूप-बोध अथवा आत्मस्वरूप का ज्ञान ही आत्मा के लिए सर्वप्रकाशक है। इसके विपरीत अज्ञान और मोह आत्मा को भटकाने वाले है। अत आत्मस्वरूप का ज्ञान करके और अज्ञान और मोह ममता का विवर्जन करके ही, इसका क्षय करके ही, आत्मा एकात मोक्ष या मुक्ति को प्राप्त कर लेता है।

ममता एक जटिल बन्धन है। मोह या ममता से ग्रस्त होकर ही वह भौरा मृदुतम पुष्प की पखुड़ियो को नहीं काट सकता जो कठोर काष्ठ को काटने की क्षमता रखता है। आसक्ति ममता का ही अपर नाम है। मेरा मकान, मेरा धन, मेरा परिवार, मेरापन या ममता की इन कठोर जजीरो से जकड़ा हुआ व्यक्ति कैसे शाति अनुभव कर सकता है? मेरेपन के अति सकीर्ण घेरो से घिरा व्यक्ति प्राणिमात्र के साथ आत्मतुल्यता के व्यवहार का कैसे निर्वाह कर सकता है? उसकी दृष्टि ममता के रहते, विकारो के रहते, कैसे सम्यक् रह सकती है? मोहित व्यक्ति अपने सहज स्वभाव को कैसे प्राप्त कर सकता है?

ममता की सकीर्ण दीवारे खड़ी करके व्यक्ति अपने छोटे से स्वार्थमय ससार मे परार्थ और परमार्थ से दूर चला जाता है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' मे सारे ससार को अपना परिवार समझने वाला व्यक्ति मेरा घर, मेरा देश की सकीर्णता मे रहकर कैसे समता और शाति प्राप्त कर सकता है ?

ममता परिग्रह है। 'मुच्छा परिग्गहो वुत्तो' मूर्च्छा को परिग्रह माना गया है। ममता का भाव और व्यवहार भी व्यक्ति को आत्मस्वरूप का भान भुला देता है। ममता मदिरा है। मदिरा का सेवन करके व्यक्ति अपना भान भूल जाता है इसी प्रकार व्यक्ति घर, परिवार, धन-दौलत मे लुब्ध बनकर आत्मस्वरूप को भूल जाता है। व्यक्ति यह भूल जाता है कि वह कौन है, उसे क्या करना है, कहाँ जाना है?

शास्त्रकार कहते है कि साधक अपने शरीर पर भी ममत्व नही रखे। अपने शरीर पर भी ममत्व रखने वाला साधक श्रमण नही होकर गृहस्थ ही है। (दशवैकालिक ६/१६)

यह तो हुई समता विरोधी ममता की कठोर कहानी। अब समता के बारे मे कुछ बात कर ली जाय। यदि निरतर प्रयास करके ममता के स्थान पर समता को प्रतिष्ठित कर सके तो जीवन जगमगा उठेगा। जीवन की चरम मंजिल और सिद्धि चलकर स्वयमेव निकट आ जायगी। ममता की कोमल कठोर जजीरो को कैसे तोड़ा जाय ? ममता के स्थान पर समता को कैसे स्थापित किया जाये ? इसके लिए निम्न साधनो का सहारा लिया जा सकता है—

सद्ग्रन्थो का स्वाध्याय 'नाणेण जाणइ भावे' के शास्त्रकथन के अनुसार ज्ञानाराधना से वस्तुस्वरूप का बोध प्राप्त होता है। जब तक वस्तु के विनाशी-अविनाशी, हितकारी-अहितकारी स्वरूप का बोध न हो, तब तक उससे नहीं बचा जा सकता अथवा उसमे प्रवृत्ति नहीं होती। सर्प के विषैले स्वरूप की जानकारी होने पर ही व्यक्ति उससे बचते है और उसके निकट भी नही जाते। शास्त्र या सद्ग्रन्थो के अध्ययन से भी व्यक्ति को आत्महितकारी तत्त्वो का बोध मिलता है जिन्हे समझकर आत्मा ममता, माया और मोह के बधनो को जानकर उनका त्याग करता है और समता की सुशीतल छाया को ग्रहण करता है। शास्त्रज्ञान से पदार्थ के नश्वर स्वरूप का और आत्मा के शाश्वत स्वरूप का ज्ञान करके आत्मा सभी विषमताओं/पापो से बचता है और समता को जीवन मे प्रतिष्ठा प्रदान कर सकता है।

उत्तराध्ययन अध्ययन २३ मे केशी-गौतम सवाद इसका प्रमाण है जिसमे केशी मुनि के प्रश्नो के उत्तर मे गौतम स्वामी ने आगम ज्ञान के महत्त्व से क्रोधादि कषायो के शमन करने का कथन किया है। सद्ग्रन्थो के स्वाध्याय से विचारधारा को स्वस्थ मोड़ मिलेगा और विचार स्वस्थ बनेगे। स्वस्थ विचारो से सुन्दर आचरण का निर्माण होगा और विषमताओं का निवारण होकर जीवन मे समता की प्रतिष्ठा हो सकेगी।

अनित्यादि भावनाओं का चितन समता भावना को पुष्ट करेगा। ससार के सभी पदार्थ नश्वर हैं, देह मरणधर्मा है परंतु चैतन्यतत्त्व या आत्म तत्त्व शाश्वत है। मेरा ससार मे कोई शरण नहीं। परिवार आदि जिन्हे शरण माना जा रहा है वे स्वय भी अशरण हैं। सुदेव, सुगुरु और धर्म ही जीव के लिए शरणभूत हैं, आदि विचार अनित्यादि भावनाओं के चितन से पुष्ट होगे। इनके चिंतन से ममता और मोह का अधकार दूर होगा और समता का प्रकाश प्राप्त होगा।

तटस्थता एव प्रतिक्रिया न करने का अभ्यास—अनुकूल अथवा प्रतिकूल परिस्थितियो मे कोई प्रतिक्रिया नहीं करते हुए केवल ज्ञाता द्रष्टा बनकर उन्हे देखा

जाय परतु कोई प्रतिक्रिया नहीं की जाय। यह असभव लगेगा परतु अभ्यास करने से कुछ भी असभव नहीं। इस प्रकार के अभ्यास से व्यक्ति समतामय जीवन जीने मे सफल हो सकेगा। विषम परिस्थितियो के प्रति उदासीनता की वृत्ति रखने से जीवन मे समता की स्थापना की जा सकेगी।

'मन की ममता हटाकर स्थूलिभद्र वेश्या की दुर्वृत्ति पर ममता हटाने से ही विजयी हो सके। सिह की गुफा पर रहने वाला साधक तन की ममता को मारकर सिद्धि को प्राप्त करने मे समर्थ हो सका।

साँप की बाँबी पर ध्यान जमाने वाले योगी ऐसे ही थे। वे शरीर मे स्थित होने पर भी अपने आपको शरीर से भिन्न समझते थे। अतएव सर्प से उन्हे कोई भय नही था—जैसे समुद्र मे विस्फोट होने से बम का विष विलीन हो जाता है, वैसे सर्प का विष मुनिराज के समता सागर मे विलीन हो गया। (आध्यात्मिक आलोक-आचार्य श्री हस्ती)

जब तक व्यक्ति मोह-ममता से ग्रस्त रहेगा तब तक विषमता के दुष्चक्र से घिरा रहेगा। समता की साधना नहीं कर सकता। ममता के निवारण से स्वय ही समता भावना का उदय होगा जैसे प्रकाश के प्रकट होने पर अन्धकार स्वत तिरोहित हो जाता है, नष्ट हो जाता है। अत ममता निवारे और समता धारे।

'दुख हय जस्स न होइ मोहो' अर्थात् जिसका मोह जिसकी ममता नष्ट हो गई उसके दु ख का भी अत हो गया। ☐

प्लाट ३५, अहिंसापुरी, फतहपुरा, उदयपुर

तुलसी भेड़ि की धसनि जड़ जनता सनमान ।

उपजत ही अभिमान को, खोवत मूढ़ अतान ।।

—तुलसी (दोहावली)

मूर्ख जनता का दिया हुआ सम्मान भेड़ियाधसान की भाँति होता है। ऐसा सम्मान प्राप्त करके मनुष्य को अभिमान हो जाता है और वह मूर्ख फिर नीचे गिर जाता है।

यमो वैवस्तवो देवो यस्तवैपद्धादिस्थित ।

तेन चेद विवादस्तो मा गगा का कुरुन गम ।।

—मनु

पुरुष तेरे हृदय मे सर्वान्तिर्यामी आत्मदेव का वास है। उससे यदि तेरा विरोध नही तो तुझे गगा या कुरुक्षेत्र आदि तीर्थों को जाने की आवश्यकता नही।

साहित्य वीथी

साहित्य-समीक्षा से सबधित स्तम्भ
(समीक्षा हेतु पुस्तक की दो प्रतिया भेजे)

समाजभूषण सेठ श्री चम्पालालजी बांठिया स्मृति ग्रंथ

सम्पादक श्री उदय नागौरी एव डॉ किरण नाहटा, प्रकाशक श्री जवाहर विद्यापीठ भीनासर (बीकानेर), प्रकाशन वर्ष १९९४, पृष्ठ सख्या २४६+चित्रवीथी, मूल्य १०१ ०० रुपये।

श्री चम्पालाल बाठिया राजस्थान के एक ऐसे समृद्ध सपूत थे जिन्होने अपने त्याग, निष्ठा एव सकल्प-शक्ति द्वारा शिक्षा, समाजसेवा एव सघनिष्ठा की अनोखी त्रिवेणी इस मरुधरा मे प्रवाहित की थी। यद्यपि वे लक्ष्मी के वरद्पुत्र थे तथापि सरस्वती मे उनकी अपूर्व आस्था थी। ज्योतिर्धर युगपुरुष श्री जवाहरलाल जी म सा के सान्निध्य मे उनकी प्रवृत्तियो का अनोखा परिष्कार हुआ था। उन्ही के प्रति कृतज्ञता भाव ने बाठिया जी को आचार्य श्रीजी के स्वर्गारोहण के उपरात उनकी स्मृति मे 'श्री जवाहर विद्यापीठ' की स्थापना की प्रेरणा दी थी। इसी विद्यापीठ की स्वर्णजयन्ती के अवसर पर उसके सस्थापक की स्मृति मे प्रस्तुत ग्रथ का प्रकाशन श्री जवाहर विद्यापीठ, भीनासर ने किया है।

स्मृति ग्रन्थ सात खण्डो मे विभाजित है। यद्यपि शुभकामना सदेश, चित्रवीथी, 'सम्मान-अभिनन्दन' एव 'श्रद्धा सुमन' जैसे खण्डो का अपना महत्त्व है तथापि 'तेजस्वी व्यक्तित्व' से सबधित द्वितीय खण्ड एव 'सस्मरणो से झाकता व्यक्तित्व' से सबधित चतुर्थ खण्ड का विशेष महत्त्व है। किसी व्यक्ति की स्मृति को अक्षुण्ण बनाने तथा उसके प्रति श्रद्धाभाव से स्मृतिग्रथ प्रकाशित करने का उद्देश्य यही होता है कि भविष्य का समाज उसके व्यक्तित्व एव कर्तृत्व से प्रेरणा प्राप्त कर सके। यदि ऐसा नही होता तो स्मृति ग्रन्थ मात्र औपचारिकता पूर्ति बन कर रह जाता है। प्रस्तुत स्मृति ग्रन्थ का प्रकाशन इस दृष्टि से सार्थक है कि वह एक अनजान पाठक को भी श्री बॉठिया के बहुआयामी व्यक्तित्व से परिचित करा देता है। उनके व्यक्तित्व के ऐसे पक्षो को भी यह उजागर करता है जिनकी ओर सामान्यत व्यक्ति का ध्यान नही जाता अथवा किन्हीं विशिष्ट गुणो की चकाचौंध मे जो दिखाई नही देते परन्तु एक समग्र व्यक्तित्व की पहिचान के लिए जिनसे परिचय आवश्यक होता है। इस दृष्टि से द्वितीय एव चतुर्थ खण्डो की सामग्री श्री बाठिया के जिस बहुआयामी

व्यक्तित्व पर प्रकाश डालती है वह उन्हे एक कुशल व्यवसायी, कर्मठ समाजसेवी तथा प्रबुद्ध एव धर्मनिष्ठ सुश्रावक के रूप मे स्थापित करती है।

इस बीसवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध अनेक दृष्टियो से उथल-पुथल का युग था जिसमे ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र मे ही क्रान्तियो का सूत्रपात नहीं हुआ—शिक्षा, जीवनचर्या, सामाजिक-धार्मिक चिन्तन एव राष्ट्र-सेवा की नई दिशाएँ भी उन्मुक्त हुई। यह वह समय था जब सम्पूर्ण राष्ट्र मध्ययुगीन सस्कारो से मुक्त हो प्रगतिशील वर्तमान मे प्रवेश कर रहा था। देशी राज्यो का विघटन, विदेशी दासता से मुक्ति, प्रजातत्र एव समाजवाद की धारणाओं का उदय, धार्मिक सहिष्णुता का विचार तथा प्रगतिशील चिन्तन इसी युग की देन थे। सामाजिक एव शैक्षणिक क्रान्ति का शखनाद इसी युग मे हुआ। इतने विराट् परिवर्तन को जो व्यक्ति अपनी सम्पूर्ण चेतना मे उतार सका हो उसकी ग्रहणशीलता निश्चय ही आश्चर्यजनक होगी। श्री चम्पालाल बाठिया ने ऐसी ही ग्रहणशील प्रतिभा का परिचय दिया, यह तथ्य इस स्मृतिग्रथ मे सर्वत्र उभर कर आया है।

श्री बाठिया तत्कालीन बीकानेर नरेश के स्नेह पात्र ही नही, राज्य विधान सभा के सदस्य भी रहे थे। विशिष्ट समाज सेवा के लिए वे पब्लिक सर्विस मेडल फर्स्टक्लास से सम्मानित हुए थे। गगागोल्डन जुबली मेडल भी उन्हे प्रदान किया गया था। यदि ऑनरेरी मजिस्ट्रेट के रूप मे वे न्याय व्यवस्था से जुड़े थे तो 'राज्य व्यापार सघ' के अध्यक्ष के रूप मे उन्होंने औद्योगिक विकास की गति को भी राज्य मे दिशा प्रदान की थी। नगरपालिका अध्यक्ष के रूप मे उन्होंने भीनासर के विकास के लिए प्रशसनीय कार्य किया। श्री श्वेताम्बर साधुमार्गी सघ की विविध इकाइयो ने धार्मिक सहयोग के लिए उन्हे अनेक बार सम्मानित किया था। शिक्षा और ज्ञानार्जन के क्षेत्र मे उनके द्वारा स्थापित श्री जवाहर विद्यापीठ, भीनासर उनकी यशगाथा का कीर्तिमान है ही और उसके द्वारा प्रकाशित साहित्य उनकी स्मृति को स्थायी बनाने के लिए पर्याप्त है।

श्री बांठिया के जिस बहुमुखी व्यक्तित्व को द्वितीय एवं चतुर्थ खण्डो मे सम्पूर्ण विविधता मे उतारा गया है उसी के प्रमाण 'शुभकामनाओं' से सबधित प्रथम खण्ड, 'सम्मान, अभिनन्दन-वन्दन' से सबधित षष्ठ एवं 'श्रद्धा सुमन-सवेदना के स्वर' से संबधित सप्तम खण्ड प्रस्तुत करते हैं। तृतीय एवं पचम खण्ड चित्र-खण्ड हैं जिनकी अपनी उपयोगिता है। इस प्रकार स्मृति ग्रन्थ की सम्पूर्ण औपचारिकताओं को पूरा करता हुआ भी यह ग्रन्थ श्री बाठिया के प्रति सच्ची श्रद्धाजली प्रस्तुत करने मे सफल हुआ है।

ग्रथ का मुद्रण एव प्रकाशन नयनाभिराम एव प्रभावशाली है तथा सामग्री का नियोजन सुरुचिपूर्ण, जिसके लिए सम्पादक बधाई के पात्र है।

श्री जवाहर विद्यापीठ भीनासर : स्वर्ण जयन्ती स्मारिका

सम्पादक डॉ किरनचन्द नाहटा, श्री उदय नागौरी तथा श्री जानकीनारायण श्रीमाली, प्रकाशक स्वर्णजयन्ती समारोह समिति, श्री जवाहर विद्यापीठ, भीनासर (बीकानेर) लोकार्पण १ मई १९९४.

भारतवर्ष देवताओं एव सन्तो की अवतार भूमि रहा है। सन्तो ने देवताओं द्वारा दिखाये गये मार्ग का अनुसरण कर सदा सर्व कल्याण का मार्ग प्रशस्त किया है। श्रमण सस्कृति के एक ऐसे ही ज्योतिर्धर सत हुए है श्री जवाहरलाल जी महाराज साहब जिन्होंने आज से २५०० वर्षों से भी अधिक समय पूर्व परिनिर्वाण प्राप्त भगवान महावीर की कल्याणी वाणी के प्रचार हेतु जीवन समर्पित कर दिया था। श्री जवाहरलाल जी म सा अपने जीवन के अतिम समय भीनासर मे ही विराजमान थे तथा वही आषाढ़ शुक्ला अष्टमी स २००० मे उन्होंने अपने पार्थिव शरीर का त्याग किया। ऐसे प्रतापी आचार्य की स्मृति को जीवन्त प्रेरणा का स्रोत बनाने के उद्देश्य से अप्रैल १९४४ मे उन्हीं के निर्वाण स्थान भीनासर मे श्री जवाहर विद्यापीठ की स्थापना की गई थी जिसके घोषित उद्देश्यो मे प्रमुख थे—आचार्य श्री के व्याख्यानो का प्रकाशन, जैन समाज मे शिक्षा का प्रसार, साधु-साध्वियो हेतु शिक्षा-सुविधाओं का विस्तार तथा जैन छात्रो को उच्च शिक्षा प्रदान कर प्रौढ़ विद्वानो की उपलब्धि की सुनिश्चिति। १९९४ मे इस सस्था ने अपनी स्थापना के पचास वर्ष पूर्ण किये उसी के उपलक्ष्य मे प्रस्तुत स्वर्ण जयन्ती स्मारिका का प्रकाशन किया गया है।

किसी सस्था से सबधित स्मारिका से कतिपय अपेक्षाएँ होती है जिनमे प्रमुख है—उस सस्था का सक्षिप्त इतिहास, उसकी स्थापना के उद्देश्य, उद्देश्य की प्राप्ति हेतु किये गये प्रयास, विविध प्रवृत्तियो एव कार्यक्रमो के विवरण जो प्रमुख उपलब्धियो तथा भविष्य की योजनाओं का लेखा-जोखा प्रस्तुत कर शुभचिन्तको के सम्मुख सस्था की सही छवि प्रस्तुत कर उसके प्रति सद्भाव एव सहयोग-भाव उत्पन्न करे। निश्चय ही सस्था से जुड़े व्यक्तियो एव उसके ससाधनो से परिचित कराना भी स्मारिका के लिए आवश्यक होता है जिससे वह सुहृदजनो का विश्वास अर्जित कर सके। सद्भावी सज्जनो के बधाई एव शुभकामना सदेश भी स्मारिका के कलेवर का आवश्यक अग होते हैं। प्रस्तुत स्मारिका इन सभी अपेक्षाओं की पूर्ति करती है।

स्मारिका छ' खण्डो मे विभाजित है। इनके अतिरिक्त तीन परिशिष्ट, सस्थापक परिचय, सस्था परिचय एव अर्थ सहयोग के विवरण तथा विज्ञापन भी स्मारिका के कलेवर का विस्तार करते हैं।

स्मारिका की सामग्री का चयन सुरुचिपूर्ण एव प्रस्तुतीकरण प्रभावशाली है। अपनी प्रेरणा के स्रोत ज्योतिर्धर आचार्य श्री जवाहरलाल जी म सा के जीवन, दर्शन, सृजन एव चिन्तन पर विविध कोणो से प्रकाश डाला गया है। इस दृष्टि से 'गवाक्ष' खण्ड के अन्तर्गत सकलित सामग्री विशेष रूप से समाज, धर्म और चिन्तन के क्षेत्र मे आचार्य श्री द्वारा की गई क्रान्ति से पाठको का परिचय कराती है। वह आचार्य निश्चय ही महान् होगा जो अपने स्वय के प्रयासो से धर्म को आडम्बर, अविचार एव शिथिलाचार से मुक्त करा सका, चतुर्विध सघ के आधार को पुष्ट कर साधु-साध्वियो के ज्ञान-परिवर्द्धन हेतु मार्ग निर्देशिका प्रस्तुत कर सका, स्वय के भगीरथ प्रयासो से विपुल सत् साहित्य का निर्माण कर सका, सघ को अनुशासित, साधुचर्या को नियत्रित एव श्रावकाचरण को सुसस्कारित कर धार्मिक चिन्तन को उच्च शिखरो तक पहुँचा सका। ऐसे सत का पुण्य स्मरण गौरव का विषय है तथा उसकी स्मृति को अक्षुण्ण बनाने का कोई भी प्रयास प्रशसनीय है। इस दृष्टि से इस स्मारिका का प्रकाशन निश्चय ही सार्थक है।

परन्तु स्मारिका का यह उद्देश्य ही उसकी सीमा भी बन गया है। जिस विद्यापीठ की स्थापना के पचास वर्ष पूर्ण होने के उपलक्ष्य मे इस स्मारिका का प्रकाशन किया गया है उसकी गतिविधियो, उपलब्धियो, भावी योजनाओं आदि से सवधित जानकारी अत्यल्प है। दो सौ पृष्ठो से भी अधिक की ठोस सामग्री मे मात्र १२-१५ पृष्ठ ही संस्था से सबधित हैं, वे भी मात्र प्रतिवेदन के रूप मे है। उपलब्धियो के विवरणो के स्थान पर निर्णयों की सूचनाएँ ही अधिक है, वे भी अनेक मात्र एक अथवा दो वाक्यो मे है तथा उनकी क्रियान्विति के सबध मे मौन रखा गया है। विद्यापीठ की प्रमुख गतिविधि विद्याप्रसार से सबधित होती है अत शिक्षा-प्रसार, शिक्षा-सुविधाओं के विस्तार, शिक्षण के स्वरूप की विशिष्टता, उच्च शिक्षा प्रदान कर प्रौढ़ विद्वानो की उपलब्धि की सुनिश्चिति जैसे घोषित उद्देश्यो एव विद्यापीठ के रूप मे प्रमुख उपलब्धियो से सबधित विवरण भी होने चाहिये थे। इसी प्रकार, कर्मचारियो, शैक्षिक गतिविधियो से सबधित विद्वानो, व्यक्तियो, प्रवृत्तियो के चित्र आदि भी अपेक्षित थे जिससे यह स्मारिका विद्यापीठ के रूप का भी परिचय करा सकती। निश्चय ही यह खटकने वाला अभाव है। फिर भी जिस ज्योतिर्धर आचार्य की पुण्य स्मृति मे इस विद्यापीठ की स्थापना की गई थी उसकी महिमा पर विभिन्न कोणो से प्रकाश डालने मे यह सफल हुई है। उपलब्ध सामग्री के कुशल सयोजन के लिए सम्पादकगण बधाई के पात्र हैं।

विश्वात्मा श्री आदिनाथ

महामहोपाध्याय मानकचन्द रामपुरिया, पाण्डुलिपि।

विश्वात्मा श्री आदिनाथ महामहोपाध्याय मानकचन्द रामपुरिया द्वारा रचित प्रथम जैन तीर्थंकर श्री ऋषभदेव के जीवन एव विभिन्न भवो मे उनके परिभ्रमण की कथा कहने वाला एक चरित-काव्य है। कवि ने अपनी कथा के लिए जैन शास्त्रो को

आधार बनाया है इस कारण कथा का स्वरूप पूर्णत शास्त्रसम्मत है। 'आवश्यक निर्युक्ति', 'आवश्यक चूर्णिका', 'आवश्यक मलयगिरि वृत्ति', 'त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित' और 'कल्पसूत्र' की टीकाओं मे श्री ऋषभदेव के तेरह भवो का उल्लेख है। शीलाकाचार्य ने 'चउप्पन महापुरिस चरिय' मे सप्तम भव युगल को छोड़कर शेष बारह भवो का उल्लेख किया है। दिगम्बराचार्य जिनसेन ने महापुराण मे व आचार्य दामनन्दी ने पुराण सार सग्रह मे दस भवो का उल्लेख किया है। अन्य दिगम्बर विद्वानो ने भी दस भवो की ही बात कही है। श्वेताम्बराचार्यों ने धन्ना सार्थवाह के भव से भवो की परिगणना की जबकि दिगम्बराचार्यों ने महाबल के भव से भवो का उल्लेख किया है। यह भी ध्यान मे रखने की बात है कि इन भवो की जो परिगणना की गई है वह सम्यक्त्व उपलब्धि के पश्चात् की है। श्री ऋषभदेव के जीव को अनादिकाल के मिथ्यातत्त्वरूपी निविड़ अधकार से सर्वप्रथम धन्ना सार्थवाह के भव मे ही मुक्ति मिली थी और सम्यग्दर्शन के अमित आलोक के दर्शन हुए थे। इस सबध मे द्रष्टव्य है कि आत्मा के विविध भवो मे परिभ्रमण करने की परिकल्पना केवल श्रमण सास्कृतिक परम्पराओं मे ही प्राप्त होती है, अन्य परम्पराओं मे अवतार की परिकल्पना की गई है। इस प्रकार जातक कथाओं मे गौतम बुद्ध के पाच सौ सैतालीस भवो का निरूपण किया गया है जिसके उपरान्त उन्हे बुद्धत्व प्राप्त हुआ। जैन शास्त्रीय परम्परा के अनुसार भी ऋषभदेव का जीव विविध भवो मे विचरण कर अपनी आत्मा को बलवत्तर करता रहा और अत मे ऋषभदेव के रूप मे विकसित हुआ।

जैन श्वेताम्बर परम्पराओं के अनुरूप ही श्री रामपुरिया जी ने भी ऋषभदेव के तेरह भवों की परिगणना की है और प्रथम भव धन्ना सार्थवाह के भव को माना है। प्रस्तुत चरितकाव्य की कथा पूरी तरह से शास्त्रीय कथा का अनुसरण करती है तथा उतने तक ही अपने को सीमित भी रखती है। इस स्थिति पर किचित विस्तार से विचार की आवश्यकता है जिससे विश्वात्मा श्री आदिनाथ काव्य का सम्यक् मूल्याकन हो सके।

काव्यकार श्री रामपुरिया ने सम्पूर्ण प्रथम सर्ग को स्तुतिवन्दन तथा यशकथन को अर्पित कर दिया है। प्रथम सर्ग के अत मे अपने चरितकाव्य का उद्देश्य स्पष्ट करते हुए वह प्रार्थना भी करता है—

आदिनाथ से पहले जो भी किये यहाँ भव पार।

उन्हे याद कर शीश नवाता पद पर वारम्वार।

मुझे शक्ति दो करूँ तुम्हारा वन्दन मैं अभिराम।

ऋषभदेव आदीश्वर मेरा शत-शत नमन प्रणाम।।

श्री रामपुरिया की कथा के आधार पर भी प्रथम भव मे धन्ना सार्थवाह का जीव अपनी आयुष्य पूर्ण कर दान के प्रभाव से दूसरे भव मे उत्तर कुरुक्षेत्र मे तीन पल्योपम की आयुष्य वाले युगल के रूप मे उत्पन्न होता है तदुपरान्त तीसरे भव मे सौधर्म रूप मे तीन पल्योपम आयुवाले देवरूप मे जन्म लेता है। चौथे भव मे यही जीव विदेह नगर मे राज शतबल के महल मे महाबल के रूप मे तथा पाचवे भव मे ललिताग देव के रूप मे जीवन पाता है। लोहर्गल नगर के अधिपति सुवर्णजघ की पत्नी लक्ष्मी की कुक्षि से वज्रजघ के नाम से वह छठा भव प्राप्त करता है जिसमे आयु पूर्ण करने के उपरान्त सातवे भव मे धन्ना सार्थवाह का जीव युगल-युगलनी बनता है और आठवे भव मे सौधर्म कल्प मे देव बनता है। धन्ना सार्थवाह का यही जीव नवे भव मे जीवान्द वैद्य के रूप मे उत्पन्न होता है और दसवे भव मे बाईस सरगोपमा की स्थिति वाले देव के रूप मे। ग्यारहवे भव मे वज्रनाभ तथा बारहवे भव मे देव बनकर अर्हत मे लीन रहने वाला धन्ना सार्थवाह का जीव इक्ष्वाकु भूमि मे अतिम कुलकर नाभि की पत्नी मरुदेवी के गर्भ से ऋषभदेव के रूप मे जन्म लेता है। इस प्रकार जैन शास्त्रो मे उपलब्ध कथा को ही श्री रामपुरिया ने काव्य रूप मे प्रस्तुत किया है। प्रारम्भ मे स्तुति-यशगान बीच-बीच मे श्री ऋषभदेव की महिमा के विवरण वर्णन तथा अत मे जयगान इस चरितकाव्य को धार्मिक चरितकाव्य का रूप प्रदान कर देते हैं। सभवत इस काव्य की रचना मे उनका स्वय का उद्देश्य प्रथम तीर्थकर श्री आदिनाथ के चरणो मे अपनी श्रद्धा के काव्य सुमन अर्पित करना रहा हो क्योंकि इसका सम्पूर्ण प्रभाव यही पड़ता है। यद्यपि श्री रामपुरिया ने इसे महाकाव्य कहा है तथापि यह रचना महाकाव्य की अपेक्षाओं को पूरा नहीं कर पाती। श्री रामपुरिया ने इसकी अवधारणा जिस रूप मे की थी उस मे यह चरितकाव्य ही बन सकती थी अन्यथा तेरह भवो की वैविध्यपूर्ण सामग्री एक वृहत् महाकाव्य की रचना के लिए सर्वथा उपयुक्त थी। कथा का यह बहुआयामी स्वरूप ही इस चरितकाव्य की दुर्बलता बन गया है क्योकि कवि के सम्मुख घटनाओं, पात्रो और परिणतियो को केवल स्पर्श कर छोड़ देने की विवशता बनी रही। जहा कथा मे विस्तार है भी वहा भी धार्मिक आग्रह प्रबल होने तथा यशोगान की प्रवृत्ति प्रमुख होने के कारण कलात्मक प्रवृत्तियो के निरूपण मे बाधा उत्पन्न हुई है। इसी आग्रह तथा प्रवृत्ति की प्रवलता के कारण कथावस्तु मे असन्तुलन भी आ गया है जो उसके कलारूप के ह्रास के लिए प्रमुख रूप से उत्तरदायी है। सामाजिक-सास्कृतिक सदर्भो की पूर्ण उपेक्षा तथा मनोवैज्ञानिक स्थितियो के चित्रण की पूर्ण अवहेलना चरित्रो को गौण, घटनाओं को महत्त्वहीन तथा गुणगान की प्रवृत्ति को प्रमुख वना देती है। इस प्रकार परिकल्पना, सयोजना और सरचना की दृष्टि से यह कृति चरितकाव्य से आगे नही वढ़ पाती।

—डॉ. आदर्श सक्सेना